नमः सर्वज्ञाय

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमद् राजचन्द्रविरचित

उपदेशछाया और आत्मसिद्धि

अनुवादकर्त्ता और सम्पादक

पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री, एम. ए.

प्रथम बार

श्रुतपंचमी, वि. सं. १९९३

ई० सन् १९३७

परमश्रुतप्रभावकमंडलके

ऑ० व्य० सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरीने

बम्बईके न्यू भारत मुद्रणालयमें प्रकाशित किया

मूल्य आठ आना

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव, चाहे जो हो सब समान ही हैं। कोई जैन कहा जाता हो और मतसे ग्रस्त हो तो वह अहितकारी है, मतरहित ही हितकारी है। (उपदेशछाया पृ. २६)। वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन आदि चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाग्रहरहित भावसे शुद्ध समतासे आवरणोंको घटावेगा उसीका कल्याण होगा। (उपदेशछाया पृ. २७).

जो सात नय अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिये हैं, और आत्मार्थ ही एक सच्चा नय है। नयका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो फल होता है—अन्तमें उपशम आवे तो फल होता है। नहीं तो जीवको नयका ज्ञान जालरूप ही हो जाता है, और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है (उपदेश छाया पृ. ४७).

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्त्तमानमां होय।
थाशे काळ भविष्यमा, मार्गभेद नहीं कोय॥

—भूतकालमें जो ज्ञानी हो गये हैं, वर्त्तमानकालमें जो मौजूद हैं, और भविष्य-कालमें जो होंगे, उनका किसीका भी मार्ग भिन्न नहीं होता, अर्थात् परमार्थसे उन सबका एक ही मार्ग है। (आत्मसिद्धि १३४).

आत्मभ्रांतिसम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञासम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान॥

—आत्मभ्रांतिके समान दूसरा रोग नहीं, सद्गुरुके समान कोई निपुण वैद्य नहीं, सद्गुरुकी आज्ञापूर्वक चलनेके समान कोई पथ्य नहीं, तथा विचार और निदिध्यासनके समान दूसरी कोई औषधि नहीं। (आत्मसिद्धि १२९).

प्रकाशक—सेठ मणिलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी,
ऑ० व्यवस्थापक परमश्रुतप्रभावक मंडल, खाराकुवा, जौहरी बाजार, बम्बई नं. २.
मुद्रक—रघुनाथ दिपाजी देसाई, न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, ६, केळेवाडी,
गिरगाँव, बम्बई न. ४.

उपोद्घात
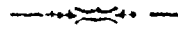
इस पुस्तकमें श्रीमद् राजचन्द्रके उपदेशछाया और आत्मसिद्धिशास्त्रका संग्रह है।

राजचन्द्रजीका जन्म काठियावाड़में मोरबी राज्यके अन्तर्गत ववाणीआ ग्राममें संवत् १९२४ (सन् १८६७) में हुआ था। उन्होंने मात्र ३३ वर्षकी अवस्थामें राजकोटमें देहोत्सर्ग किया।

उपदेशछाया राजचन्द्रजीकी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। राजचन्द्रजी सं. १९५२ में आनंदके आसपास काविठा, राल्ज, वडवा आदि स्थलोंमें निवृत्तिके लिये रहे थे। उस समय उन्होंने जो उपदेश दिया अथवा जिन जिन प्रश्नोंके उत्तर दिये, उन सबका एक मुमुक्षु भाईने सारमात्र लिख लिया था। यह सार बहुत संक्षिप्त और अधूरा था। बहुतसे स्थलोंपर तो यह केवल शब्दार्थरूपमें ही था। यही उपदेशछाया है। उपदेशछायामें मुख्य चर्चा आत्मार्थके संबंधमें है। अनेक स्थलोंपर यह चर्चा बहुत ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है।

आत्मसिद्धिशास्त्रकी रचना श्रीमद् राजचन्द्रने सं. १९५२ में २९ वर्षकी अवस्थामें नड़ियादमें रहकर सिर्फ एक डेढ़ दिनमें की थी। यह शास्त्र मुख्यतया सायलाके श्रीसौभागभाई, श्रीडूंगर आदि मुमुक्षु तथा अन्य भव्य जीवोंके हितके लिये रचा गया था।

आत्मसिद्धिके पद्योंके हिन्दी, संस्कृत आदि भाषाओंमें अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। आत्मसिद्धिके पद्योंका संस्कृत अनुवाद न्यायव्याकरणतीर्थ पं. बेचरदासने और हिन्दी विवेचन पं. उदयलाल काशलीवालने किया है, जिसे श्रीयुत मनसुखलाल रवजीभाई महेताने स. १९७५ में प्रकाशित किया है। इसका मराठी पद्यानुवाद मोतीचंद हीराचद गांधीने किया है। आत्मसिद्धिका अंग्रेजी विवेचन रायबहादुर जुगमदरलाल जैनी एम. ए. ने किया है, जो सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है। आत्मसिद्धिशास्त्रमें 'आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्त्ता है, वह भोक्ता है, मोक्षपद है, और मोक्षका उपाय है' इन छह पदोंकी १४२ पद्योंमें युक्तिपूर्वक सिद्धि की गई है।

जुबिलीबाग, तारदेव,
बम्बई
९–६–३७

जगदीशचन्द्र

श्रीमद राजचंद्र.

गं २४ मं.

वि. सं. १९४७.

* उपदेश-छाया

(१)

स्त्री, पुत्र, परिग्रह आदि भावोंके प्रति मूलज्ञान होनेके पश्चात् यदि ऐसी भावना रहे कि 'जब मैं चाहूँगा तब इन स्त्रियों आदिके समागमका त्याग कर सकूँगा,' तो वह मूलज्ञानके ही वमन कर देनेकी बात समझनी चाहिये; अर्थात् उनसे मूलज्ञानमें यद्यपि भेद नहीं पड़ता, परन्तु वह आवरणरूप हो जाता है। तथा शिष्य आदि अथवा भक्ति करनेवाले मार्गसे च्युत हो जावेंगे अथवा अटक जावेंगे, ऐसी भावनासे यदि ज्ञानी-पुरुष भी आचरण करें तो ज्ञानी-पुरुषको भी निरावरणज्ञान आवरणरूप हो जाता है; और उससे ही वर्धमान आदि ज्ञानी-पुरुष अनिद्रापूर्वक साढ़े बारह वर्षतक रहे; उन्होंने सर्वथा असंगताको ही श्रेयस्कर समझा; एक शब्दके भी उच्चारण करनेको यथार्थ नहीं माना; और सर्वथा निरावरण, योगरहित, भोगरहित और भयरहित ज्ञान होनेके बाद ही उपदेशका कार्य आरंभ किया। इसलिये 'इसे इस तरह कहेंगे तो ठीक है, अथवा इसे इस तरह न कहा जाय तो मिथ्या है,' इत्यादि विकल्पोंको साधु मुनियोंको न करना चाहिये।

आजकलके समयमें मनुष्योंकी कुछ आयु तो स्त्रीके पास चली जाती है, कुछ निद्रामें चली जाती है, कुछ धंधेमें चली जाती है, और जो कुछ थोड़ीसी बाकी रहती है, उसे कुगुरु लूट लेते हैं। अर्थात् मनुष्य-भव निरर्थक ही चला जाता है।

(२)

श्रावण वदी ३

प्रश्नः—केवलज्ञानीने जो सिद्धान्तोंका प्ररूपण किया है वह 'पर-उपयोग' है या 'स्व-उपयोग'? शास्त्रमें कहा है कि केवलज्ञानी स्व-उपयोगमें ही रहते हैं।

उत्तर:—तीर्थंकर किसीको उपदेश दें तो इससे कुछ 'पर-उपयोग' नहीं कहा जाता। 'पर-उपयोग' उसे कहा जाता है कि जिस उपदेशको करते हुए रति, अरति, हर्ष और अहंकार होते हों। ज्ञानी-पुरुषको तो तादात्म्य संबंध होता नहीं, जिससे उपदेश करते हुए उसे रति अरति नहीं होते। रति-अरतिका होना, वह 'पर-उपयोग' कहा जाता है। यदि ऐसा हो तो केवली लोकालोकको जानते हैं—देखते हैं, उन्हें भी 'पर-उपयोग' कहा जाय। परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि उनमें रति-अरतिभाव नहीं है।

सिद्धांतकी रचनाके विषयमें यह समझना चाहिये कि यदि अपनी बुद्धि न पहुँचे, तो इससे वे वचन असत् हैं, ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि जिसे तुम असत् कहते हो, उसे तुम पहिले शास्त्रसे ही जीव अजीव कहना सीखे हो। अर्थात् उन्हीं शास्त्रोंके आधारसे ही, तुम जो कुछ जानते हो उसे

* संवत् १९५२ श्रावण-भाद्रपद मासमें श्रीमद् राजचन्द्र आनंदके आसपास काविठा, राळज, वडवा आदि स्थलोंमें निवृत्तिके लिये रहे थे। उस समय उनके समीपवासी भाई अंबालाल लालचन्दकी स्मृतिमें श्रीमद्के उपदेश-विचारोंकी जो छायामात्र रह गई, उसके आधारसे उन्होंने उस छायाका सार भिन्न भिन्न स्थलोंपर बहुत अपूर्ण और अव्यवस्थित-रूपमें लिख लिया था। वही सार यहाँ उपदेश-छायाके रूपमें दिया है। —अनुवादक.

तुमने जाना है, तो फिर उन्हें असत् कहना, यह उपकारके बदले दोष करनेके बराबर ही गिना जायगा। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे, इस कारण वे सिद्धांतके विषयमें जानते थे। सिद्धांत महावीरस्वामीके बहुत वर्ष पश्चात् लिखे गये हैं, इसलिये उन्हें असत् कहना दोष गिना जायगा।

ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेवाले भद्रिक मुमुक्षु जीवको, यदि गुरुने 'ब्रह्मचर्यके पालने अर्थात् स्त्रियों आदिके समागममें न जानेकी' आज्ञा की हो, तो उस वचनपर दृढ विश्वास कर, वह भी उस उस स्थानकमें नहीं जाता, जब कि जिसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र आदि बाँचकर ही मुमुक्षता हो गई हो, उसे ऐसा अहंकार रहा करता है कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है?'—ऐसे ही पागलपनके कारण वह उन स्त्रियों आदिके समागममें जाता है। कदाचित् उस समागमसे एक दो बार वह बच भी जाय, परन्तु पीछेसे उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है,' ऐसे करते करते उसे उसमें आनन्द आने लगता है, और उससे वह स्त्रियोंका सेवन करने लगता है।

भोलाभाला जीव तो ज्ञानीकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है, अर्थात् वह दूसरे विकल्पोंको न करते हुए वैसे प्रसंगमें कभी भी नहीं जाता। इस प्रकार, जिस जीवको, 'इस स्थानकमें जाना योग्य नहीं' ऐसे ज्ञानीके वचनोंका दृढ़ विश्वास है, वह ब्रह्मचर्य व्रतमें रह सकता है। अर्थात् वह इस अकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता, जब कि जिसे ज्ञानीकी आज्ञाकारिता नहीं, ऐसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र बाँचकर होनेवाले मुमुक्षु अहंकारमें फिरा करते हैं, और समझा करते हैं कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है?' ऐसी मान्यताको लेकर यह जीव च्युत हो जाता है, और आगे बढ़ नहीं सकता। यह जो क्षेत्र है वह निवृत्तिवाला है, किन्तु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे ही तो है। तथा जो सच्चा ज्ञानी है, उसके सिवाय दूसरा कोई अब्रह्मचर्यके वश न हो, यह केवल कथनमात्र है। जैसे, जिसे निवृत्ति नहीं हुई, उसे प्रथम तो ऐसा होता है कि 'यह क्षेत्र श्रेष्ठ है, यहाँ रहना योग्य है', परन्तु फिर ऐसे करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे वृत्ति क्षेत्राकार हो जाती है। किन्तु ज्ञानीकी वृत्ति क्षेत्राकार नहीं होती, क्योंकि एक तो क्षेत्र निवृत्तिवाला है, और दूसरे उसने स्वयं भी निवृत्तिभाव प्राप्त किया है, इससे दोनों योग अनुकूल हैं। शुष्कज्ञानियोंको प्रथम तो ऐसा ही अभिमान रहा करता है कि इसमें जीतना ही क्या है? परन्तु पीछेसे वह धीरे धीरे स्त्रियों आदि पदार्थोंमें फँस जाता है, जब कि सच्चे ज्ञानीको वैसा नहीं होता।

हालमें सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमें आती है, उन्हीं अक्षरोंमें अनुक्रमसे तीर्थंकरने उपदेश दिया हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु जैसे किसी समय किसीने वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथाके विषयमें पूँछा तो उस समय तत्संबंधी बात कह बताई। फिर किसीने पूँछा कि धर्मकथा कितने प्रकारकी है तो कहा कि चार प्रकारकी:—आक्षेपणी, विक्षेपणी, निर्वेदणी, संवेगणी। इस तरह जब बातें होतीं हों, तो उनके पास जो गणधर होते हैं, वे उन बातोंको ध्यानमें रख लेते हैं और अनुक्रमसे उनकी रचना करते हैं। जैसे यहाँ भी कोई मनुष्य कोई बात करनेसे ध्यानमें रखकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है। बाकी तीर्थंकर जितना कहें, उतना कुछ सबका सब उनके ध्यानमें नहीं रहता—केवल अभिप्राय ही ध्यानमें रहता है। तथा गणधर भी बुद्धिमान थे, इसलिये उन तीर्थंकरोंद्वारा कहे हुए वाक्य कुछ उनमें नहीं आये, यह बात भी नहीं है।

सिद्धांतोंके नियम इतने अधिक सख्त हैं, फिर भी यति लोगोंको उससे विरुद्ध आचरण करते हुए देखते हैं। उदाहरणके लिये कहा गया है कि साधुओंको तेल डालना नहीं चाहिये फिर भी वे लोग डालते हैं। इसमें कुछ ज्ञानीकी वाणीका दोष नहीं है, किन्तु जीवकी समझनेकी शक्तिका ही दोष है। जीवमें सद्बुद्धि न हो तो प्रत्यक्ष योगमें भी उसको उल्टा मालूम होता है, और यदि सद्बुद्धि हो तो सीधा भासित होता है।

प्राप्त = ज्ञानप्राप्त पुरुष। आप्त = विश्वास करने योग्य पुरुष।

मुमुक्षुमात्रको सम्यग्दृष्टि जीव नहीं समझ लेना चाहिये, जीवके भूलके स्थानक अनेक हैं। इसलिये विशेष विशेष जागृति रखनी चाहिये, व्याकुल होना नहीं चाहिये; मंदता न करनी चाहिये; पुरुषार्थ-धर्मको वर्धमान करना चाहिये।

जीवको सत्पुरुषका संयोग मिलना कठिन है। अपना शिष्य यदि दूसरे धर्ममें चला जाय तो अपारमार्थिक गुरुको ज्वर चढ़ आता है। पारमार्थिक गुरुको 'यह मेरा शिष्य है' यह भाव होता नहीं। कोई कुगुरु-आश्रित जीव बोधके श्रवण करनेके लिये कभी किसी सद्गुरुके पास गया हो और फिर वह अपने उसी कुगुरुके पास आवे, तो वह कुगुरु उस जीवको अनेक विचित्र विकल्प बैठा देता है, जिससे वह जीव फिरसे सद्गुरुके पास जाता नहीं। उस बिचारे जीवको तो सत्-असत् वाणीकी परीक्षा भी नहीं, इसलिये वह ठगा जाता है, और सन्मार्गसे च्युत हो जाता है।

(३)　　राळज, श्रावण वदी ६ शनि. १९५२

भक्ति यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। भक्तिसे अहंकार दूर होता है, स्वच्छंद नाश होता है, और सीधे मार्गमें गमन होता है, अन्य विकल्प दूर होते हैं—ऐसा यह भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

प्रश्न.—आत्मा किसके अनुभवमें आई कही जानी चाहिये?

उत्तर—जिस तरह तलवारको म्यानमेंसे निकालनेपर वह उससे भिन्न मालूम होती है, उसी तरह जिसे आत्मा देहसे स्पष्ट भिन्न मालूम होती है, उसे आत्माका अनुभव हुआ कहा जाता है।

जिस तरह दूध और पानी मिले हुए हैं, उसी तरह आत्मा और देह मिले हुए रहते हैं। दूध और पानी क्रिया करनेसे जब भिन्न भिन्न हो जाते हैं तब वे भिन्न कहे जाते हैं। उसी तरह आत्मा और देह क्रियासे भिन्न हो जानेपर भिन्न भिन्न कहे जाते हैं। जबतक दूध दूधकी और पानी पानीकी पर्यायको प्राप्त न कर ले तबतक क्रिया माननी चाहिये। यदि आत्माको जान लिया हो तो फिर एक पर्यायसे लगाकर समस्त निजस्वरूप तककी भ्रांति होती नहीं। अपना दोष कम हो, आवरण दूर हो, तो ही समझना चाहिये कि ज्ञानीके वचन सच्चे हैं। हमें भव्य अभव्यकी चिंता न रखते हुए, हालमें तो जिससे उपकार हो ऐसे लाभका धर्म-व्यापार करना चाहिये।

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-शोकके समयमें उपस्थित रहे, अर्थात् जिससे हर्ष शोक न हों। सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक आदिके समागममें एकाकार होता नहीं। उसके अचेत परिणाम होते नहीं। अज्ञान आकर खड़ा हुआ कि वह जानते ही उसे तुरत दबा देता है, बहुत ही जागृति होती है। भय अज्ञानका ही है। जैसे कोई सिंह चला आ रहा हो और उससे सिंहनीको भय लगता नहीं, किन्तु उसे

माल्म होता है कि मानो कोई कुत्ता ही चला आ रहा है; उसी तरह पौद्गलिक-संयोगको ज्ञानी समझता है। राज्यके मिलनेपर आनंद होता हो तो वह अज्ञान है।

ज्ञानीकी दशा बहुत ही अद्भुत है। यायातथ्य कल्याण जो समझमें आया नहीं, उसका कारण वचनको आवरण करनेवाला दुराग्रहभाव—कषाय है। दुराग्रहभावके कारण, मिथ्यात्व क्या है वह समझमें आता नहीं। दुराग्रहको छोड दें तो मिथ्यात्व दूर भागने लगे। कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझ लेना मिथ्यात्व है। दुराग्रह आदि भावके कारण जीवको कल्याणका स्वरूप बतानेपर भी समझमें आता नहीं। कषाय दुराग्रह आदिको छोडा न जाय तो फिर वह विशेष प्रकारसे पीडा देता है। कषाय सत्तारूपसे मौजूद रहती है, और जब निमित्त आता है तब वह खड़ी हो जाती है, तबतक खड़ी होती नहीं।

प्रश्नः—क्या विचार करनेसे समभाव आता है?

उत्तरः—विचारवानको पुद्गलमें तन्मयता—तादात्म्यभाव—होता नहीं। अज्ञानी यदि पौद्गलिक-संयोगके हर्षका पत्र बाँचे, तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखाई देने लगता है, और यदि भयका पत्र बाँचे तो उदास हो जाता है।

सर्प देखकर जब आत्मवृत्तिमें भयका कारण उपस्थित हो उस समय तादात्म्यभाव कहा जाता है। जिसे तन्मयता हो उसे ही हर्ष-शोक होता है। जो निमित्त है वह अपना कार्य किये विना नहीं रहता।

मिथ्यादृष्टिके मध्यमें साक्षी (ज्ञानरूपी) नहीं है*।

देह और आत्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ है। ज्ञानीके मध्यमें साक्षी है। ज्ञान, यदि जागृति हो तो ज्ञानके वेगसे, जो जो निमित्त मिलें उन्हें पीछे हटा सकता है।

जीव, जब विभाव परिणाममें रहे उसी समय कर्म बाँधता है, और जब स्वभाव परिणाममें रहे उस समय कर्म बाँधता नहीं।

स्वच्छंद दूर हो तो ही मोक्ष होती है। सद्गुरुकी आज्ञाके विना आत्मार्थी जीवके श्वासोच्छ्वासके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता, ऐसी जिनभगवान्की आज्ञा है।

प्रश्नः—पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती हैं?

उत्तरः—पदार्थोंके ऊपर तुच्छभाव लानेसे। फूलोंके सुखानेसे उनकी सुगंधि थोड़े ही समय-तक रहकर नाश हो जाती है, फूल कुम्हला जाता है, और उससे कुछ संतोष होता नहीं। उसी तरह तुच्छ भाव आनेसे इन्द्रियोंके विषयमें लुब्धता होती नहीं।

पाँच इन्द्रियोंमें जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं।

प्रश्नः—शिष्यने ज्ञानी-पुरुषसे प्रश्न किया कि 'बारह उपांग तो बहुत गहन है, और इससे वे मेरी समझमें नहीं आ सकते; इसलिये कृपा करके बारह अंगोंका सार ही बताइये कि जिसके अनुसार आचरण करूँ तो मेरा कल्याण हो जाय।'

* इसका आशय श्रीमद् राजचन्द्रकी गुजराती आवृत्तिके फुटनोटमें, संशोधक मनसुखराम रवजी भाई मेहताने निम्नरूपसे लिखा है—मिथ्यादृष्टिको विपरीतभावसे आचरण करते हुए भी कोई रोक सकनेवाला नहीं, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको कोई भय नहीं।—अनुवादक

इतनेमे ही जहॉ शिथिलताके कारण मिले कि वृत्तियाँ यह कहकर ठग लेती हैं 'इसके त्याग करनेसे रोगके कारण उत्पन्न होंगे, इसलिये इस समय नहीं परन्तु फिर कभी त्याग करूँगी।'

इस तरहसे अनादिकालसे जीव ठगाया जा रहा है। किसीका बीस वर्षका पुत्र मर गया हो तो उस समय तो उस जीवको ऐसी कड़वाहट लगती है कि यह संसार मिथ्या है। किन्तु होता क्या है कि दूसरे ही दिन इस विचारको बाह्य वृत्ति यह कहकर विस्मरण करा देती है कि "इसका पुत्र कल बड़ा हो जायगा; ऐसा तो होता ही आता है; किया क्या जाय?" परन्तु यह नहीं होता जिस तरह वह पुत्र मर गया है उस तरह मै भी मर जाऊँगा। इसलिये समझकर वैराग्य लेकर चला जाऊँ तो अच्छा है—ऐसी वृत्ति नहीं होती। वहाँ वृत्ति ठग लेती है।

जीव ऐसा मान बैठता है कि 'मैं पंडित हूँ, शास्त्रका वेत्ता हूँ, होशियार हूँ, गुणवान हूँ, लोग मुझे गुणवान कहते हैं', परन्तु जब उसे तुच्छ पदार्थका संयोग होता है, उस समय तुरत ही उसकी वृत्ति उस ओर खिंच जाती है। ऐसे जीवको ज्ञानी कहते हैं कि तू जरा विचार तो सही कि तुच्छ पदार्थकी कीमतकी अपेक्षा भी तेरी कीमत तुच्छ है। जैसे एक पाईकी चार बीड़ी मिलती हैं—अर्थात् पाव पाईकी एक एक बीड़ी हुई—उस बीड़ीका यदि तुझे व्यसन हो और तू अपूर्व ज्ञानीके वचन श्रवण करता हो, तो यदि वहाँ भी कहींसे बीड़ीका धूँआ आ गया हो तो तेरी आत्मामेंसे भी धूँआ निकलने लगता है, और ज्ञानीके वचनोंपरसे प्रेम जाता रहता है। बीड़ी जैसे पदार्थमें, उसकी क्रियामे, वृत्तिके आकृष्ट होनेसे वृत्तिका क्षोभ निवृत्त होता नहीं। जब पाव पाईकी बीड़ीसे भी ऐसा हो जाता है तो फिर व्यसनीकी कीमत तो उससे भी तुच्छ हुई—एक एक पाईकी चार चार आत्मायें हुईं। इसलिये हरेक पदार्थमें तुच्छताका विचारकर वृत्तिको बाहर जाते हुए रोकनी चाहिये और उसका क्षय करना चाहिये।

अनाथदासजीने कहा है कि '**एक अज्ञानीके करोड़ अभिप्राय हैं, और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है।**'

उत्तम जाति, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और सत्संग इत्यादि प्रकारसे आत्म-गुण प्रगट होते हैं।

तुम जैसा मानते हो वैसा आत्माका मूल स्वभाव नहीं है। इसी तरह आत्माको कर्मोंने कुछ सर्वथा आवृत कर नहीं रक्खा है। आत्माका पुरुषार्थ-धर्मका मार्ग तो सर्वथा खुला हुआ है।

बाजरे और गेहूँके एक दानेको यदि एक लाख वर्षतक रख छोड़ा हो (इतने दिनोमें वह सड़ जायगा; यह बात हमारे ध्यानमें है), परन्तु यदि उसे पानी मिट्टी आदिका संयोग न मिले तो उसका उगना संभव नहीं है, उसी तरह सत्संग और विचारका संयोग न मिले तो आत्माका गुण प्रगट होता नहीं।

श्रेणिक राजा नरकमें है, परन्तु समभावसे है, समकिती है, इसलिये उसे दुःख नहीं है।

चार लकड़हारोंकी तरह जीव भी चार प्रकारके होते हैं:—

कोई चार लकड़हारे जंगलमें गये। पहिले पहिल सबने लकड़ियाँ उठा लीं। वहाँसे आगे चलने-पर चंदन आया। वहाँ तीननेने तो चंदन ले लिया, और उनमेंसे एक कहने लगा कि "मालूम नहीं कि इस तरहकी लकड़ियाँ बिकेंगी या नहीं, इसलिये मुझे तो इन्हें नहीं लेना है। हम जो रोज लेते हैं,

मुझे तो वे ही लकडियाँ अच्छी हैं । ' आगे चलनेपर चॉदी-सोना आया । उन तीनमेंसे दो जनोंने चन्दनको फेंक दिया, और सोना-चाँदी ले लिया । एकने सोना-चॉदी नहीं लिया । वहॉसे आगे चले कि चिन्तामणि रत्न आया । इन दोमेंसे एकने सोना फेंककर चिंतामणि रत्न उठा लिया, और एकने सोनेको ही रहने दिया ।

१. यहॉ इस तरह दृष्टात घटाना चाहिये कि जिसने केवल लकडियाँ ही लीं, और दूसरा कुछ भी न लिया था—ऐसा एक तरहका जीव होता है; जिसने अलौकिक कार्योंको करते हुए ज्ञानी-पुरुषको पहिचाना नहीं; दर्शन भी किया नहीं । इससे उसका जन्म, जरा, मरण भी दूर हुआ नहीं, गति भी सुधरी नहीं ।

२. जिसने चन्दन उठा लिया और लकड़ियोंको फेंक दिया—वहाँ इस तरह दृष्टात घटाना चाहिये कि जिसने थोड़ा भी ज्ञानीको पहिचाना, उसके दर्शन किये, तो उससे उसकी गति श्रेष्ठ हो गई ।

३. जिसने सोना आदि ग्रहण किया, वह दृष्टात इस तरह घटाना चाहिये कि जिसने ज्ञानीको उस प्रकारसे पहिचाना उसे देवगति प्राप्त हुई ।

४. जिसने चिंतामणि रत्न लिया, उस दृष्टातको इस तरह घटाना चाहिये कि जीवको ज्ञानीकी यथार्थ पहिचान हुई कि जीव भवमुक्त हुआ ।

कल्पना करो कि एक वन है । उसमें बहुतसे माहात्म्ययुक्त पदार्थ हैं । उनकी जैसे जैसे पहिचान होती है, उतना ही उनका माहात्म्य मालूम देता है, और उसी प्रमाणमें मनुष्य उनको ग्रहण करता है । इसी तरह ज्ञानी-पुरुषरूपी वन है । उस ज्ञानी पुरुषका माहात्म्य अगम अगोचर है । उसकी जितनी जितनी पहिचान होती है, उतना ही उसका माहात्म्य मालूम होता है; और उस उस प्रमाणमें जीवका कल्याण होता है ।

सासारिक खेदके कारणोंको देखकर, जीवको कड़वाहट मालूम होनेपर भी वह वैराग्यके ऊपर पाँव रखकर चला जाता है, किन्तु वैराग्यमें प्रवृत्ति करता नहीं ।

लोग ज्ञानीको लोक-दृष्टिसे देखें तो उसे पहिचानते नहीं ।

आहार आदिमें भी ज्ञानी-पुरुषकी प्रवृत्ति बाह्य रहती है । किस तरह ? जैसे किसी आदमीको पानीमें खड़े रहकर, पानीमें दृष्टि रखकर, बाण साधकर ऊपर टॅगे हुए घड़ेका वेधन करना रहता है । लोग तो समझते हैं कि वेधन करनेवालेकी दृष्टि पानीमें है, किन्तु वास्तवमें देखा जाय तो उस आदमीको घड़ेका वेधन करना है, इसलिये उसपर लक्ष करनेके वास्ते, वेधन करनेवालेकी दृष्टि आकाशमें ही रहती है । इसी तरह ज्ञानीकी पहिचान किसी विचारवानको ही होती है ।

दृढ निश्चय करना कि बाहर जाती हुई वृत्तियोंका क्षय करना चाहिये—अवश्य क्षय करना चाहिये, यही ज्ञानीकी आज्ञा है ।

स्पष्ट प्रीतिसे संसार करनेकी इच्छा होती हो तो समझना चाहिये कि ज्ञानी-पुरुषको देखा ही नहीं । जिस तरह प्रथम संसारमें रसरहित आचरण करता हो उस तरह, ज्ञानीका संयोग होनेपर फिर आचरण करे—यही ज्ञानीका स्वरूप है ।

ज्ञानीको ज्ञान-दृष्टिसे—अंतर्दृष्टिसे—देखनेके पश्चात् स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न होता नहीं। क्योंकि ज्ञानीका स्वरूप विषय-सुखकी कल्पनासे जुदा है। जिसने अनन्त सुखको जान लिया हो उसे राग होता नहीं, और जिसे राग होता नहीं, उसीने ज्ञानीको देखा है, और उसीको ज्ञानी-पुरुषके दर्शन करनेके पश्चात् स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासित हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि उसने ज्ञानीके वचनोंको यथार्थ रीतिसे सत्य जाना है। जिसने ज्ञानीके समीप, देह और आत्माको भिन्न—पृथक् पृथक्—जान लिया है, उसे देह और आत्मा भिन्न भिन्न भासित होते हैं; और उससे स्त्रीका शरीर और आत्मा जुदा जुदा मालूम होते हैं। उसने स्त्रीके शरीरको माँस, मिट्टी, हड्डी आदिका पुतला ही समझा है, इसलिये उसे उसमें राग उत्पन्न होता नहीं।

समस्त शरीरका ऊपर नीचेका बल कमरके ऊपर ही रहता है। जिसकी कमर टूट गई है, उसका सब बल नष्ट हो गया है। विषय आदि जीवकी तृष्णा है। संसाररूपी शरीरका बल इस विषय आदिरूप कमरके ऊपर ही रक्खा हुआ है। ज्ञानी-पुरुषके बोधके लगनेसे विषय आदिरूप कमरका भंग हो जाता है, अर्थात् विषय आदिकी तुच्छता मालूम होने लगती है; और उस प्रकारसे संसारका बल घटता है, अर्थात् ज्ञानी-पुरुषके बोधमें ऐसी सामर्थ्य है।

महावीरस्वामीको **संगम** नामके देवताने बहुत ही ऐसे ऐसे परीषह दिये कि जिनमें प्राण-त्याग होते हुए भी देर न लगे। वहाँ कैसी अद्भुत समता रक्खी! उस समय उन्होंने विचार किया कि जिसके दर्शन करनेसे कल्याण होता हो, नाम स्मरण करनेसे कल्याण होता हो, उसीके समागममें आकर इस जीवको अनन्त संसारकी वृद्धिका कारण होता है! ऐसी अनुकंपा आनेसे आँखमें आँसू आ गये। कैसी अद्भुत समता है! दूसरेकी दया किस तरह अंकुरित हो निकली थी! उस समय मोहराजने यदि जरा ही धक्का लगाया होता तो तुरत ही तीर्थंकरपना संभव न रहता; और कुछ नहीं तो देवता तो भाग ही जाता। जिसने मोहनीयके मलका मूलसे नाश कर दिया है, अर्थात् मोहको जीत लिया है, वह मोह कैसे कर सकता है?

श्रीमहावीरस्वामीके पास **गोशाला**ने आकर दो साधुओंको जला डाला, उस समय उन्होंने यदि जरा भी सामर्थ्यपूर्वक साधुओंकी रक्षा की होती, तो उन्हें तीर्थंकरपनेको फिरसे करना पड़ता। परन्तु जिसे 'मैं गुरु हूँ, यह मेरा शिष्य है' ऐसी भावना ही नहीं है, उसे वैसा कुछ भी करना नहीं पड़ता। उन्होंने ऐसा विचार किया कि 'मैं शरीरके रक्षणका दातार नहीं, केवल भाव-उपदेशका ही दातार हूँ। यदि मैं इनकी रक्षा करूँ तो मुझे गोशालाकी भी रक्षा करनी चाहिये, अथवा समस्त जगत्की ही रक्षा करनी उचित है'। अर्थात् तीर्थंकर ऐसा ममत्व करते ही नहीं।

वेदान्तमें इस कालमें चरमशरीरी होना कहा है। जिनभगवान्के मतानुसार इस कालमें एकावतारी जीव होते हैं। यह कोई थोड़ी बात नहीं है, क्योंकि इसके पश्चात् कुछ मोक्ष होनेमें अधिक देर लगती नहीं। कुछ थोड़ा ही बाकी रह जाता है, और जो रहता है वह फिर सहजमें ही दूर हो जाता है। ऐसे पुरुषकी दशा—वृत्तियाँ—कैसी होती हैं? अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ शान्त हुई रहती हैं; और इतनी अधिक शान्ति हुई रहती है कि राग-द्वेष सब नाश होने योग्य हो जाते हैं—उपशान्त हो जाते हैं।

सद्वृत्तियोंके उत्पन्न होनेके लिये जो जो कारण–साधन—बताये होते हैं, उन्हें न करनेको ज्ञानी कभी कहते ही नहीं। जैसे रात्रिमें भोजन करना हिंसाका कारण मालूम होता है, इसलिये ज्ञानी कभी भी आज्ञा नहीं करते कि तू रात्रिमे भोजन कर। परन्तु जिस जिस अहंभावसे आचरण किया हो, और रात्रिभोजनसे ही अथवा 'इस अमुकसे ही मोक्ष होगी, अथवा इसमें ही मोक्ष है' ऐसा दुराग्रहसे मान्य किया हो, तो वैसे दुराग्रहको छुड़ानेके लिये ज्ञानी-पुरुष कहते हैं कि 'इसे छोड़ दे; ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञासे वैसा (रात्रिभोजन-त्याग आदि) कर,' और वैसा करेगा तो कल्याण हो जायगा। अनादि कालसे दिनमें और रातमें भोजन किया है, परन्तु जीवको मोक्ष हुई नहीं!

इस कालमें आराधकताके कारण घटते जाते हैं, और विराधकताके लक्षण बढ़ते जाते हैं।

केशीस्वामी बड़े थे, और पार्श्वनाथ स्वामीके शिष्य थे, तो भी उन्होने पाँच महाव्रत स्वीकार किये थे।

केशीस्वामी और गौतमस्वामी महाविचारवान थे, परन्तु केशीस्वामीने यह नहीं कहा कि 'मैं दीक्षामें बड़ा हूँ, इसलिये तुम मेरेसे चारित्र ग्रहण करो'। विचारवान और सरल जीवको, जिसे तुरत ही कल्याणयुक्त हो जाना है, इस प्रकारकी बातका आग्रह होता नहीं।

कोई साधु जिसने अज्ञान-अवस्थापूर्वक आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, और पीछेसे उसे ज्ञानी-पुरुषका समागम होनेपर, वह ज्ञानी-पुरुष यदि साधुको आज्ञा करे कि जिस स्थानमें तूने आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, वहाँ जाकर सबसे पीछे एक कोनेमें बैठकर सब लोगोंसे ऐसा कह कि 'मैंने अज्ञानभावसे उपदेश दिया है, इसलिये तुम लोग भूल खाना नहीं;' तो साधुको उस तरह किये बिना छुटकारा नहीं है। यदि वह साधु यह कहे कि 'मेरेसे ऐसा नहीं हो सकता, इसके बदले यदि आप कहो तो मैं पहाड़के ऊपरसे गिर जाऊँ, अथवा अन्य जो कुछ कहो सो करूँ, परन्तु वहाँ तो मैं नहीं जा सकता'—तो ज्ञानी कहता है कि 'कदाचित् तू लाख बार भी पर्वतके ऊपरसे गिर जाय तो भी वह किसी कामका नहीं है। यहाँ तो यदि वैसा करेगा तो ही मोक्षकी प्राप्ति होगी। वैसा किये बिना मोक्ष नहीं है। इसलिये यदि तू जाकर क्षमा माँगे तो ही तेरा कल्याण हो सकता है'।

गौतमस्वामी चार ज्ञानके धारक थे। आनन्द श्रावक उनके पास गया। आनन्द श्रावकने कहा कि 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हो गया है'। उत्तरमें गौतमस्वामीने कहा कि 'नहीं, नहीं, इतना सब हो नहीं सकता, इसलिये तुम क्षमापना लो'। उस समय आनन्द श्रावकने विचार किया ये मेरे गुरु हैं, संभव है, इस समय ये भूल करते हों, तो भी 'आप भूल करते हो', यह कहना योग्य नहीं। ये गुरु हैं, इसलिये इनसे शान्तिसे ही बोलना ठीक है। यह सोचकर आनन्द श्रावकने कहा कि महाराज! सद्भूतवचनका 'मिच्छामि दुक्कडं' अथवा असद्भूतवचनका 'मिच्छामि दुक्कडं'? गौतमने कहा कि असद्भूतवचनका ही 'मिच्छामि दुक्कड' होता है। इसपर आनन्द श्रावकने कहा कि 'महाराज! मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' लेने योग्य नहीं हूँ'। इतनेमें गौतमस्वामी वहाँसे चले गये और उन्होंने जाकर महावीरस्वामीसे पूँछा। यद्यपि गौतमस्वामी स्वयं उसका समाधान कर सकते थे, परन्तु गुरुके मौजूद रहते हुए वैसा करना ठीक नहीं, इस कारण उन्होंने महावीरस्वामीके पास जाकर यह

सब बात कह दी। महावीरस्वामीने कहा कि 'हे गौतम! हाँ, आनन्द जैसा समझता है वैसा ही है, और तुम्हारी भूल है, इसलिये तुम आनन्दके पास जाकर क्षमा माँगो'। गौतमस्वामी 'तथास्तु' कहकर क्षमा माँगनेके लिये चल दिये। यदि गौतमस्वामीने मोह नामक महासुभटको पराभव न किया होता तो वे वहाँ जाते ही नहीं; और कदाचित् ऐसा कहते कि 'महाराज! आपके जो इतने सब शिष्य हैं, उनकी मैं चाकरी कर सकता हूँ, पर वहाँ तो मैं न जाऊँगा,' तो वह बात स्वीकृत न होती। गौतमस्वामीने स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँगी।

'सास्वादनसमकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित—अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर यदि आवरण आ जाय, तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न माल्म होती है। जैसे छाछमेंसे पहिले मक्खनको निकाल लेनेपर पीछेसे उसे छाछमें डालें, तो मक्खन और छाछ पहिले जैसे एकमेक थे, वैसे एकमेक वे फिर नहीं होते; उसी तरह समकित मिथ्यात्वकी साथ एकमेक होता नहीं। अथवा जिसे हीरामणिकी कीमत हो गई हो उसके सामने यदि बिल्लौरका टुकड़ा आवे तो उसे हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आती है—यह दृष्टांत भी यहाँ घटता है।

सद्गुरु, सद्देव और केवलीके प्ररूपित किये हुए धर्मको सम्यक्त्व कहा है, परन्तु सत्देव और केवली ये दोनों सद्गुरुमें गर्भित हो जाते हैं।

निर्ग्रंथ गुरु अर्थात् पैसे रहित गुरु नहीं, परन्तु जिसका ग्रंथि-भेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहिचान होना व्यवहारसे ग्रन्थि-भेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने बिल्लौरका कोई टुकड़ा लेकर विचार किया "मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी मिलती नहीं।' बादमें उसने जब किसी चतुर आदमीके पास जाकर कहा कि 'मेरी मणि असली है,' तो उस चतुर आदमीने उससे भी बहुत बढ़िया बढ़िया अधिक अधिक कीमतकी मणिया बताकर कहा कि देख इनमें कुछ फरक माल्म देता है? बराबर देख। उस मनुष्यने जबाब दिया कि 'हाँ इनमें फरक तो माल्म पड़ता है।' इसके बाद उस चतुर पुरुषने झाड़-फन्नूस बताकर कहा कि 'देख, तेरी जैसी मणियाँ तो हजारों मिलती हैं।' सब झाड़ फन्नूस दिखानेके पश्चात् जब उसे उस पुरुषने असली मणि बताई तो उसे उसकी ठीक ठीक कीमत माल्म पड़ी, और उसने उस मणिको बिलकुल नकली समझकर फेंक दी। बादमें फिर, किसी दूसरे आदमीने मिलनेपर उससे कहा कि तूने जिस मणिको असली समझ रक्खा है, वैसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं। तो इस प्रकारके आवरणसे वहम आ जानेसे जीव भूल जाता है, परन्तु पीछेसे उसे वह झूठा ही समझता है—जिस तरह असलीकी कीमत हुई हो उसी तरहसे समझता है—वह तुरत ही जागृतिमें आता है कि असली बहुत होती नहीं। अर्थात् आवरण तो होता है, परन्तु पहिलेकी जो पहिचान है वह भूली जाती नहीं। इसी प्रकार विचारवान सद्गुरुका संयोग होनेपर तत्त्व-प्रतीति होती है, परन्तु बादमें मिथ्यात्वीके संगसे आवरण आ जानेसे उसमें शंका हो जाती है। यद्यपि तत्त्व-प्रतीति नष्ट नहीं हो जाती किन्तु उसे आवरण आ जाता है। इसका नाम सास्वादनसम्यक्त्व है।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात दिन जितना अन्तर है।

एक जौहरी था। उसके पास व्यापारमें अधिक नुकसान हो जानेसे कुछ भी द्रव्य बाकी बचा नहीं। जब मरनेका समय नजदीक आ पहुँचा, तो वह स्त्री बच्चोंका विचार करने लगा कि मेरे

पास कुछ भी तो द्रव्य नहीं है; किन्तु यदि अभी इस बातको कह दूँ तो लड़का छोटी उमरका है, इससे उसकी देह छूट जावेगी। स्त्रीने सामने देखा और पूछा कि कुछ कहना चाहते हैं? पुरुषने कहा 'क्या कहूँ?' स्त्रीने कहा कि जिससे मेरा और बच्चोंका उदर-पोषण हो ऐसा कोई मार्ग बताइये, और कुछ कहिये? उस समय उस पुरुषने सोच विचारकर कहा कि घरमें जवाहरातके सन्दूकमें कीमती नगकी एक डिबिया है। उसे, जब तुझे बहुत जरूरत पड़े, तो निकालकर मेरे भाईके पास जाकर बिकवा देना, उससे तुझे बहुतसा द्रव्य मिल जायगा। इतना कहकर वह पुरुष काल-धर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनों बाद बिना पैसेके उदर-पोषणके लिये पीडित हुआ वह लडका, अपने पिताके कहे हुए उस जवाहरातके नगको लेकर अपने काका (पिताके भाई जोहरी) के पास गया, और कहा कि काकाजी मुझे इस नगको बेचना है, उसका जो पैसा आवे उसे मुझे दे दो। उस जौहरी भाईने पूँछा, 'इस नगको बेचकर तुझे क्या करना है?' लड़केने उत्तर दिया कि 'उदर भरनेके लिये पैसेकी जरूरत है।' इसपर उस जोहरीने कहा 'यदि सौ-पचास रुपये चाहिये तो तू ले ले, रोज मेरी दुकानपर आ, और खर्च लेता रह। इस समय इस नगको रहने दे।' उस लडकेने उस जौहरी काकाकी बातको कबूल कर लिया, और उस जवाहरातको वापिस ले गया। तत्पश्चात् वह लड़का रोज जोहरीकी दुकानपर जाने लगा, और धीरे धीरे जौहरीके समागमसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सबकी परीक्षा करना सीख गया, और उसे उन सबकी कीमत माळूम हो गई। अब उस जौहरीने कहा 'तू जो पहिले अपने जवाहरातको बेचने लाया था उसे ला, उसे अब बेच देंगे।' इसपर लड़केने घरसे अपनी जवाहरातकी डिबिया लाकर देखी तो वह नग नकली माळूम दिया, इससे उसने उसे तुरत ही फेंक दिया। जब उस जौहरीने उसके फेंक देनेका कारण पूँछा, तो लड़केने जवाब दिया कि वह तो बिलकुल नकली था, इसलिये फेंक दिया है।

देखो, उस जौहरीने यदि उसे पहिले ही नकली बताया होता तो वह लड़का मानता नहीं, परन्तु जिस समय अपने आपको वस्तुकी कीमत मालूम हो गई और नकलीको नकलीरूपसे समझ लिया, उस समय जौहरीको कहना भी पड़ा नहीं कि यह नकली है। इसी तरह अपने आपको सद्गुरुकी परीक्षा हो जानेपर यदि असद्गुरुको असत् जान लिया तो जीव असद्गुरुको छोड़कर सद्गुरुके चरणमें जा-पड़ता है; अर्थात् अपने आपमें कीमत करनेकी शक्ति आनी चाहिये।

गुरुके पास हर रोज जाकर यह जीव एकेन्द्रिय आदि जीवोंके संबंधमें अनेक प्रकारकी शंकायें और कल्पनायें करके पूँछा करता है, परन्तु किसी दिन भी यह पूँछता नहीं कि एकेन्द्रियसे लगाकर पंचेन्द्रियको जाननेका परमार्थ क्या है? एकेन्द्रिय आदि जीवोंसंबंधी कल्पनाओंसे कुछ मिथ्यात्वरूपी ग्रंथीका छेदन होता नहीं। एकेन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप जाननेका हेतु तो दयाका पालन करना है। मात्र प्रश्न करनेके लिये वैसी बातें करनेका कोई फल नहीं। वास्तविकरूपसे तो समकित प्राप्त करना ही उस सबका फल है। इसलिये गुरुके पास जाकर व्यर्थके प्रश्न करनेकी अपेक्षा गुरुको कहना चाहिये कि आज एकेन्द्रिय आदिकी बात आज जान ली है; अब उस बातको आप कलके दिन न करें, किन्तु समकितकी व्यवस्था करें—इस तरह कहे तो किसी दिन निस्तारा हो सकता है। परन्तु रोज रोज एकेन्द्रिय आदिकी माथापच्ची करे तो इस जीवका कल्याण कब होगा?

समुद्र खारा है। एकदम तो उसका खारापन दूर होता नहीं। उसके दूर करनेका उपाय यह है कि उस समुद्रमेंसे एक एक जलका प्रवाह लेकर उस प्रवाहमें, जिससे उस पानीका खारापन दूर हो और उसमें मिठास आ जाय ऐसा खार डालना चाहिए। उस पानीके सुखानेके दो उपाय हैं—एक तो सूर्यका ताप और दूसरी ज़मीन। इसलिये प्रथम ज़मीन तैय्यार करना चाहिये और बादमें नालियोंद्वारा पानी ले जाना चाहिये और पीछेसे खार डालना चाहिए, जिससे उसका खारापन दूर हो जायगा। इसी तरह मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमें कदाग्रह आदिरूप खारापन है, इसलिये कुलधर्मरूपी प्रवाहको योग्यतारूप जमीनमें ले जाकर उसमें सद्बोधरूपी खार डालना चाहिये—इससे सत्पुरुषरूपी तापसे खारापन दूर होगा।

*** दुर्बल देहने मास उपवासी, जो छे मायारंग रे,**
तो पण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे।

+ जितनी भ्रान्ति अधिक उतना ही अधिक मिथ्यात्व। सबसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जब जब तपश्चर्या करना तब तब उसे स्वच्छंदसे न करना, अहंकारसे न करना लोगोंके लिये न करना। जीवको जो कुछ करना है, उसे स्वच्छंदसे न करना चाहिये। 'मैं होशियार हूँ' यह जो मान रखना, वह किस भवके लिये? 'मैं होशियार नहीं', इस तरह जिसने समझ लिया वह मोक्षमें गया है। सबसे मुख्य विघ्न स्वच्छद है। जिसके दुराग्रहका छेदन हो गया है, वह लोगोंको भी प्रिय होता है—कदाग्रह छोड़ दिया हो तो दूसरे लोगोंको भी प्रिय होता है। इसलिये कदाग्रहके छोड़ देनेसे सब फल मिलना संभव है।

गौतमस्वामीने महावीरस्वामीसे वेदसबंधी प्रश्न पूँछे। उन प्रश्नोंका, जिसने सब दोषोंका क्षय कर दिया है ऐसे उन महावीरस्वामीने वेदके दृष्टांत देकर समाधान (सिद्ध) कर बताया।

दूसरेको उच्च गुणोंमें चढ़ाना चाहिये, किन्तु किसीकी निन्दा करनी नहीं। किसीको स्वच्छद-तासे कुछ भी कहना नहीं। कुछ कहने योग्य हो तो अहंकाररहित भावसे ही कहना चाहिये। परमार्थ दृष्टिसे यदि राग-द्वेष घट गये हों तो ही फलदायक है, क्योंकि व्यवहारसे तो भोले जीवोंके भी राग-द्वेष घटे हुए रहते हैं; परन्तु परमार्थसे रागद्वेष मड पड़ गये हों तो वह कल्याणका कारण है।

महान् पुरुषोंकी दृष्टिसे देखनेसे सब दर्शन एकसे हैं। जैन दर्शनमें बीसलाख जीव मतमतांतरमें पड़े हुए हैं। ज्ञानीकी दृष्टिसे भेदाभेद होता नहीं।

जिस जीवको अनतानुबंधीका उदय है, उसे सच्चे पुरुषकी बात भी रुचिकर होती नहीं, अथवा सच्चे पुरुषकी बात भी सुनना उसे अच्छा लगता नहीं।

मिथ्यात्वकी जो ग्रन्थि है, उसकी सात प्रकृतियाँ हैं। मान आवे तो सातों साथ साथ आती हैं; उसमें अनतानुबंधीकी चार प्रकृतियाँ चक्रवर्तीके समान हैं। वे किसी भी तरह ग्रन्थिमेंसे निकलने देतीं नहीं। मिथ्यात्व रखवाला (रक्षपाल) है। समस्त जगत् उसकी सेवा चाकरी करता है।

* दुर्बल देह है, और एक एक मासका उपवास करता है, परन्तु यदि अतरंगमें माया है, तो भी जीव अनत गर्भ धारण करेगा ऐसा दूसरे अंगमें कहा गया है।

+ यहाँ मूलपाठमें केवल इतना ही है—जेटली भ्रान्ति वधारे तेटलुं वधारे। —अनुवादक

प्रश्नः—उदयकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तरः—ऐश्वर्यपद प्राप्त होते समय उसे धक्का मारकर पीछे निकाल बाहर करे, कि 'यह मुझे चाहिये नहीं; मुझे इसका करना क्या है ?' कोई राजा यदि प्रधानपद दे तो भी स्वयं उसके लेनेकी इच्छा करे नहीं। 'इसका मुझे करना क्या है ? घरसंबंधी उपाधि हो तो वही बहुत है'—इस तरह उस पदको मना कर दे। ऐश्वर्यपदकी अनिच्छा होनेपर भी राजा फिर फिरसे देनेकी इच्छा करे, और इस कारण वह ऊपर आ ही पड़े, तो उसे विचार होता है कि 'देख, यदि तेरा प्रधानपद होगा तो बहुतसे जीवोंकी दया पलेगी, हिंसा कम होगी, पुस्तक-शालाये खुलेंगी, पुस्तकें छपाई जावेंगी'—इस तरह धर्मके बहुतसे कारणोंको समझकर वैराग्य भावनासे वेदन करना, उसे उदय कहा जाता है। इच्छासहित तो भोग करे, और उसे उदय बतावे तो वह शिथिलता और संसारमें भटकनेका ही कारण होता है।

बहुतसे जीव मोह-गर्भित वैराग्यसे और बहुतसे दुःख-गर्भित वैराग्यसे दीक्षा ले लेते हैं। 'दीक्षा लेनेसे अच्छे अच्छे नगर और गाँवोंमें फिरनेको मिलेगा। दीक्षा लेनेके पश्चात् अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलेंगे। बस मुश्किल एक इतनी ही है कि गरमीमें नंगे पैरों चलना पडेगा, किन्तु इस तरह तो साधारण किसान अथवा पटेल लोग भी गरमीमे नंगे पैरो चलते हैं, तो फिर उनकी तरह यह भी आसानीसे ही हो जायगा। परन्तु और किसी दूसरी तरहका दु.ख नहीं है, और कल्याण ही है'—ऐसी भावनासे दीक्षा लेनेका जो वैराग्य है वह मोह-गर्भित वैराग्य है। पूनमके दिन बहुतसे लोग डाकोर जाते हैं, परन्तु कोई यह विचार करता नहीं कि इससे अपना कल्याण क्या होता है ? पूनमके दिन रणछोरजीके दर्शन करनेके लिये उनके बाप दादे जाते थे, इसलिए उनके लड़के बच्चे भी जाते हैं। परन्तु उसके हेतुका विचार करते नहीं। यह भी मोह-गर्भित वैराग्यका भेद है।

जो सासारिक दुःखसे संसार-त्याग करता है, उसे दु.ख-गर्भित वैराग्य समझना चाहिये।

जहाँ जाओ वहाँ कल्याणकी ही वृद्धि हो, ऐसी दृढ़ बुद्धि करनी चाहिये। कुल-गच्छके आग्रहको छुड़ाना, यही सत्संगके माहात्म्यके सुननेका प्रमाण है। मतमतातर आदि, धर्मके बड़े बड़े अनंतानुबंधी पर्वतके फाटककी तरह कभी मिलते ही नहीं। कदाग्रह करना नहीं और जो कदाग्रह करता हो तो उसे धीरजसे समझाकर छुड़ा देना, तो ही समझनेका फल है। अनंतानुबंधी मान, कल्याण होनेमें बीचमें स्तंभरूप कहा गया है। जहाँ जहाँ गुणी मनुष्य हो, वहाँ वहाँ विचारवान जीव उसका संग करनेके लिये कहता है। अज्ञानीके लक्षण लौकिक भावके होते हैं। जहाँ जहाँ दुराग्रह हो, उस उस जगहसे छूटना चाहिये। 'इसकी मुझे आवश्यकता नहीं,' यही समझना चाहिये।

(४) राळज, भाद्रपद सुदी ६ शनि. १९५२

प्रमादसे योग उत्पन्न होता है। अज्ञानीको प्रमाद है। योगसे अज्ञान उत्पन्न होता हो, तो वह ज्ञानीमें भी संभव है, इसलिये ज्ञानीको योग होता है, परन्तु प्रमाद होता नहीं।

"स्वभावमें रहना और विभावसे छूटना," यही मुख्य बात समझनेकी है। बाल-जीवोंके समझनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने सिद्धान्तोंके बड़े भागका वर्णन किया है।

किसीके ऊपर रोष करना नहीं, तथा किसीके ऊपर प्रसन्न होना नहीं। ऐसा करनेसे एक शिष्यको दो घडीमें केवलज्ञान प्रगट होनेका शास्त्रमें वर्णन आता है।

जितना रोग होता है, उतनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। जीवको समझना हो तो सहज ही विचार प्रगट हो जाय, परन्तु मिथ्यात्वरूपी महान् रोग मौजूद है, इसलिये समझनेमें बहुत काल व्यतीत होना चाहिये। शास्त्रमें जो सोलह रोग कहे हैं, वे सब इस जीवको मौजूद हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जो साधन बताये हैं, वे सर्वथा सुलभ हैं। स्वच्छंदसे, अहंकारसे, लोक-लाजसे, कुलधर्मके रक्षणके लिये तपश्चर्या करनी नहीं—आत्मार्थके लिये ही करनी। तपश्चर्या बारह प्रकारकी कही है। आहार न लेना आदि ये बारह प्रकार हैं। सत्साधन करनेके लिये जो कुछ बताया हो उसे सत्पुरुषके आश्रयसे करना चाहिये। अपने आपसे प्रवृत्ति करना वही स्वच्छंद है, ऐसा कहा है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना श्वासोच्छ्वास क्रियाके बिना अन्य कुछ भी करना नहीं।

साधुको लघुशंका भी गुरुसे पूँछकर ही करनी चाहिये, ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है।

स्वच्छंदाचारसे शिष्य बनाना हो तो साधु आज्ञा माँगता नहीं, अथवा उसकी कल्पना ही कर लेता है। परोपकार करनेमें मिथ्या कल्पना रहा करती हो, और वैसे ही अनेक विकल्पोंद्वारा जो स्वच्छंद छोड़े नहीं वह अज्ञानी, आत्माको विघ्न करता है। तथा वह इसी तरह सब बातोंका सेवन करता है, और परमार्थके रास्तेका उल्लंघन कर वाणी बोलता है। यही अपनी होशियारी है, और उसे ही स्वच्छंद कहा गया है।

बाह्य व्रतको अधिक लेनेसे मिथ्यात्वका नाश कर देंगे—ऐसा जीव विचार करे, तो यह संभव नहीं। क्योंकि जैसे एक भैंसा जो हजारों ज्वार-बाजरेके पूलेके पूले खा गया है, वह एक तिनकेसे डरता नहीं; उसी तरह मिथ्यात्वरूपी भैंसा, जो पूलेरूपी अनतानुबंधी कषायसे अनंतों चारित्र खा गया है, वह तिनकेरूपी बाह्य व्रतसे कैसे डर सकता है? परन्तु जैसे भैंसेको यदि किसी बंधनसे बाँध दें तो वह वशमें हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूपी भैंसेको आत्माके बलरूपी बंधनसे बाँध देनेसे वह वश हो जाता है, अर्थात् जब आत्माका बल बढ़ता तो मिथ्यात्व घटता है।

अनादिकालके अज्ञानके कारण जितना काल व्यतीत हुआ, उतना काल मोक्ष होनेके लिये चाहिये नहीं। कारण कि पुरुषार्थका बल कर्मोंकी अपेक्षा अधिक है। कितने ही जीव दो घड़ीमे कल्याण कर गये हैं। सम्यग्दृष्टि किसी भी तरह हो आत्माको ऊँचे ले जाता है—अर्थात् सम्यक्त्व आनेपर जीवकी दृष्टि बदल जाती है।

मिथ्यादृष्टि, समकितीके अनुसार ही जप तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते नहीं, संसारके ही कारणभूत होते हैं। समकितीके ही जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते हैं। समकिती उन्हें दंभ रहित करता है, अपनी आत्माकी ही निन्दा करता है, और कर्म करनेके कारणोंसे पीछे हटता है। यह करनेसे उसके अहकार आदि स्वाभाविक-रूपसे ही घट जाते हैं। अज्ञानीके समस्त जप तप आदि अहंकारकी वृद्धि करते हैं, और संसारके हेतु होते हैं।

जैनशास्त्रोंमें कहा है कि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जैन और वेददर्शन जन्मसे ही लड़ते आते हैं, परन्तु इस बातको तो दोनों ही जने कबूल करते हैं, इसलिये यह संभव है। जब आत्मा साक्षी देता है उसी समय आत्मामें उल्लास-परिणाम आता है।

होम हवन आदि बहुतसे लौकिक रिवाजोंको प्रचलित देखकर तीर्थंकरभगवान्ने अपने समयमें दयाका बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे वर्णन किया है। जैनदर्शनके समान दयासंबंधी विचार कोई दर्शन अथवा सम्प्रदायवाले लोग नहीं कर सके। क्योंकि जैन लोग पंचेन्द्रियका घात तो करते ही नहीं, किन्तु उन्होंने एकेन्द्रिय आदिमें भी जीवके अस्तित्वको विशेष अतिविशेष दृढ़ करके, दयाके मार्गका वर्णन किया है।

इस कारण चार वेद अठारह पुराण आदिका जिसने वर्णन किया है, उसने अज्ञानसे, स्वच्छंदसे, मिथ्यात्वसे और संशयसे ही किया है, ऐसा कहा गया है। ये वचन बहुत ही भारी लिखे हैं। यहाँ बहुत अधिक विचार कर पीछेसे वर्णन किया है कि अन्य दर्शन—वेद आदि—के जो ग्रन्थ हैं उन्हें यदि सम्यग्दृष्टि जीव बाँचे तो सम्यक् प्रकारसे परिणमन करता है, और जिनभगवान्के अथवा चाहे जिस तरहके ग्रन्थोंके यदि मिथ्यादृष्टि बाँचे करे तो वह मिथ्यात्वरूपसे परिणमन करता है।

जीवको ज्ञानी-पुरुषके समीप उनके अपूर्व वचनोंके सुननेसे अपूर्व उल्लास-परिणाम आता है, परन्तु बादमें प्रमादी हो जानेसे अपूर्व उल्लास आता नहीं। जिस तरह हम यदि अग्निकी सिगड़ीके पास बैठे हों तो ठंड लगती नहीं, और सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगने लगती है, उसी तरह ज्ञानी-पुरुषके समीप उनके अपूर्व वचनोंके श्रवण करनेसे प्रमाद आदि नष्ट हो जाते हैं, और उल्लास-परिणाम आता है, परन्तु पीछेसे फिर प्रमाद आदि उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पूर्वके संस्कारसे वे वचन अंतर्परिणामको प्राप्त करें तो दिन प्रतिदिन उल्लास-परिणाम बढ़ता ही जाय; और यथार्थ रीतिसे भान हो। अज्ञानके दूर होनेपर समस्त भूल दूर हो जाती है—स्वरूप जागृतिमान होता है। बाहरसे वचनोंके सुननेसे अन्तर्परिणाम होता नहीं, तो फिर जिस तरह सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगने लगती है, उसी तरह उसका दोष घटता नहीं।

केशीस्वामीने परदेशी राजाको बोध देते समय जो उसे 'जड़ जैसा' 'मूर्ख जैसा' कहा था, उसका कारण परदेशी राजामें पुरुषार्थ जागृत करनेका था। जड़ता—मूढ़ता—के दूर करनेके लिये ही यह उपदेश दिया है। ज्ञानीके वचन अपूर्व परमार्थको छोड़कर दूसरे किसी कारणसे होते नहीं। बाल-जीव ऐसी बातें किया करते हैं कि छद्मस्थभावसे ही केशीस्वामीने परदेशी राजाके प्रति वैसे वचन कहे थे, परन्तु यह बात नहीं। उनकी वाणी परमार्थके कारण ही निकली थी।

जड़ पदार्थको लेने-रखनेमें उन्मादसे प्रवृत्ति करे तो उसे असंयम कहा है। उसका कारण यह है कि जल्दबाजीसे लेने-रखनेमें आत्माका उपयोग चूककर तादात्म्यभाव हो जाता है। इस कारण उपयोगके चूक जानेको असंयम कहा है।

अहंकारसे आचार्यभाव धारण कर दंभ रक्खे और उपदेश दे तो पाप लगता है। आत्मवृत्ति रखनेके लिये ही उपयोग रखना चाहिये।

श्रीआचारांग सूत्रमें कहा है कि 'जो आस्रवा हैं वे परिस्रवा हैं' और जो 'परिस्रवा हैं वे आस्रवा हैं।' जो आस्रव है, वह ज्ञानीको मोक्षका हेतु होता है, और जो संवर है वह संवर होनेपर भी अज्ञानीको बंधका हेतु होता है—ऐसा स्पष्टरूपसे कहा है। उसका कारण ज्ञानीमें उपयोगकी जागृति करना है, और वह अज्ञानीमें है नहीं।

उपयोग दो प्रकारके कहे हैं:—१ द्रव्य उपयोग. २ भाव उपयोग.

जैसी सामर्थ्य सिद्धभगवान्‌की है, वैसी सब जीवोंको हो सकती है। केवल अज्ञानके कारण ही वह ध्यानमें आती नहीं। जो विचारवान जीव हो उसे तो नित्य ही तत्संबंधी विचार करना चाहिये।

जीव ऐसा समझता है कि मैं जो क्रिया करता हूँ इससे मोक्ष है। क्रिया करना ही श्रेष्ठ बात है, परन्तु उसे वह लोक-संज्ञासे करे तो उसका फल मिलता नहीं।

जैसे किसी आदमीके हाथमें चिंतामणि रत्न आ गया हो, किन्तु यदि उसे उसकी खबर न हो तो वह निष्फल ही चला जाता है, और यदि खबर हो तो ही उसका फल मिलता है। इसी तरह यदि जीवको ज्ञानीकी सच्ची सच्ची खबर पड़े तो ही उसका फल है।

जीवकी अनादिकालसे भूल चली आती है। उसे समझनेके लिये जीवकी जो भूल—मिथ्यात्व—है, उसका मूलसे ही छेदन करना चाहिये। यदि उसका मूलसे छेदन किया जाय तो वह फिर अंकुरित होती नहीं, अन्यथा वह फिरसे अंकुरित हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमें यदि वृक्षकी जड़ बाकी रह गई हो तो वृक्ष फिरसे उग आता है। इसलिये जीवकी वास्तविक भूल क्या है, उसका विचार विचार कर उससे मुक्त होना चाहिये। 'मुझे किस कारणसे बंधन होता है'? 'वह किस तरह दूर हो सकता है'? यह विचार पहले करना चाहिये।

रात्रि-भोजन करनेसे आलस-प्रमाद उत्पन्न होता है, जागृति होती नहीं, विचार आता नहीं, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष रात्रि-भोजनसे पैदा होते हैं। मैथुन करनेके पश्चात् भी बहुतसे दोष उत्पन्न होते हैं।

कोई हरियाली विनारता हो तो वह हमसे देखा जा सकता नहीं। तथा आत्मा उज्वलता प्राप्त करे तो बहुत ही अनुकंपा बुद्धि रहती है।

ज्ञानमें सीधा ही भासित होता है, उल्टा भासित नहीं होता। ज्ञानी मोहको प्रवेश करने देता नहीं। उसके जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीके जिस तरहका परिणाम हो वैसा ही ज्ञानीको कार्य होता है। तथा जिस तरह अज्ञानीका परिणाम हो, वैसा ही अज्ञानीका कार्य होता है। ज्ञानीका चलना सीधा, बोलना सीधा और सब कुछ सीधा ही होता है। अज्ञानीका सब कुछ उल्टा ही होता है; वर्त्तनके विकल्प होते है।

मोक्षका उपाय है। ओघ-भावसे खबर होगी, विचारभावसे प्रतीति आवेगी।

अज्ञानी स्वयं दरिद्री है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम क्रोध आदि घटते हैं। ज्ञानी उसका वैद्य है। ज्ञानीके हाथसे चारित्र प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाय। ज्ञानी जो जो व्रत दे वे सब ठेठ अन्ततक ले जाकर पार उतारनेवाले हैं। समकित आनेके पश्चात् आत्मा समाधिको प्राप्त करेगी, क्योंकि अब वह सच्ची हो गई है।

(५) भाद्रपद सुदी ९, १९५२

प्रश्नः—ज्ञानसे कर्मकी निर्जरा होती है, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—सार जाननेको ज्ञान कहते हैं और सार न जाननेको अज्ञान कहते हैं। हम किसी भी पापसे निवृत्त हों, अथवा कल्याणमें प्रवृत्ति करें, वह ज्ञान है। परमार्थको समझकर करना चाहिये। अहंकाररहित, लोकसंज्ञारहित, आत्मामें प्रवृत्ति करनेका नाम 'निर्जरा' है।

इस जीवकी साथ राग-द्वेष लगे हुए हैं। जीव यद्यपि अनतज्ञान-दर्शनसहित है, परन्तु राग-द्वेषके कारण वह उससे रहित ही है, यह वात जीवके ध्यानमें आती नहीं।

सिद्धको राग-द्वेष नहीं। जैसा सिद्धका स्वरूप है, वैसा ही सब जीवोंका भी स्वरूप है। जीवको केवल अज्ञानके कारण यह ध्यानमें आता नहीं। उसके लिये विचारवानको सिद्धके स्वरूपका विचार करना चाहिये, जिससे अपना स्वरूप समझमें आ जाय।

जैसे किसी मनुष्यके हाथमें चिंतामणि रत्न आया हो, और उसे उसकी (पहिचान) है तो उसे उस रत्नके प्रति वहुत ही प्रेम उत्पन्न होता है, परन्तु जिसे उसकी खबर ही नहीं, उसे उसके प्रति कुछ भी प्रेम उत्पन्न होता नहीं।

इस जीवकी अनादिकालकी जो भूल है, उसे दूर करना है। दूर करनेके लिये जीवकी बड़ीसे बड़ी भूल क्या है? उसका विचार करना चाहिये, और उसके मूलका छेदन करनेकी ओर लक्ष रखना चाहिये। जवतक मूल रहती है तवतक वह वढ़ती ही है।

'मुझे किस कारणसे बंधन होता है'? और 'वह किससे दूर हो सकता है'? इसके जाननेके लिये शास्त्र रचे गये है, लोगोंमें पुजनेके लिये शास्त्र नहीं रचे गये।

इस जीवका स्वरूप क्या ह?

जवतक जीवका स्वरूप जाननेमें न आवे, तवतक अनन्त जन्म मरण करने पड़ते हैं। जीवकी क्या भूल है? वह अभीतक ध्यानमे आती नहीं।

जीवका क्लेश नष्ट होगा तो भूल दूर होगी। जिस दिन भूल दूर होगी उसी दिनसे साधुपना कहा जावेगा। यही वात श्रावकपनेके लिये समझनी चाहिये।

कर्मकी वर्गणा जीवको दूध और पानीके सयोगकी तरह है। अग्निके संयोगसे जैसे पानीके जल जानेपर दूध वाकी रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी अग्निसे कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमें अहंभाव माना हुआ है, इस कारण जीवकी भूल दूर होती नहीं। जीव देहकी साथ एकमेक हो जानेसे ऐसा मानने लगता है कि 'मैं वनिया हूँ,' 'ब्राह्मण हूं,' परन्तु शुद्ध विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं शुद्ध स्वरूपमय हूं'। आत्माका नाम ठाम कुछ भी नहीं है—जीव इस तरह विचार करे तो उसे कोई गाली वगैरह दे, तो भी उससे उसे कुछ भी लगता नहीं।

जहाँ जहाँ कहीं जीव ममत्व करता है वहाँ वहाँ उसकी भूल है। उसके दूर करनेके लिये ही शास्त्र रचे गये हैं।

चाहे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह वैराग्य है। जहाँ जहाँ 'यह मेरा भाई वन्धु है' इत्यादि भावना है, वहाँ वहाँ कर्म-बंधका कारण है। इसी तरहकी भावना यदि साधु भी अपने चेलेके प्रति रक्खे तो उसका आचार्यपना नाश हो जाय। वह अदभता, निरहंकारता करे तो ही आत्माका कल्याण हो सकता है।

पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती हं? वस्तुओंके ऊपर तुच्छ भाव लानेसे। जैसे फूलमें यदि सुगंध हो तो उससे मन सतुष्ट होता है, परन्तु वह सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल कुम्हला जाता है, फिर मनको कुछ भी संतोष होता नहीं। उसी तरह सब पदार्थोंमें तुच्छभाव

लानेसे इन्द्रियोंको प्रियता होती नहीं, और उससे क्रमसे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। तथा पाँच इन्द्रियोंमें भी जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं। तुच्छ आहार करना चाहिये। किसी रसवाले पदार्थकी ओर प्रेरित होना नहीं। बलिष्ठ आहार करना नहीं।

जैसे किसी बर्त्तनमें खून, माँस, हड्डी, चमड़ा, वीर्य, मल, और मूत्र ये सात धातुएँ पड़ी हुई हों, और उसकी ओर कोई देखनेके लिये कहे तो उसके ऊपर अरुचि होती है, और थूँकातक भी नहीं जाता; उसी तरह स्त्री-पुरुषके शरीरकी रचना है। परन्तु उसमें ऊपर ऊपरसे रमणीयता देखकर जीवको मोह होता है, और उसमें वह तृष्णापूर्वक प्रेरित होता है। अज्ञानसे जीव भूलता है—ऐसा विचार कर, तुच्छ समझकर, पदार्थके ऊपर अरुचिभाव लाना चाहिये। इसी तरह हरेक वस्तुकी तुच्छता समझनी चाहिए। इस तरह समझकर मनका निरोध करना चाहिये।

तीर्थंकरने उपवास करनेकी आज्ञा की है, वह केवल इन्द्रियोंको वश करनेके लिये ही की है। अकेले उपवासके करनेसे इन्द्रियाँ वश होतीं नहीं, परन्तु यदि उपयोग हो तो—विचारसहित हो तो—वश होती हैं। जिस तरह लक्षरहित बाण व्यर्थ ही चला जाता है, उसी तरह उपयोगरहित उपवास आत्मार्थके लिये होता नहीं।

अपनेमें कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिये यदि कोई अपनी स्तुति करे, और यदि उससे अपनी आत्मामें अहकार उत्पन्न हो तो वह पीछे हट जाती है। अपनी आत्माकी निन्दा करे नहीं, अभ्यतर दोष विचारे नहीं, तो जीव लौकिक भावमें चला जाता है; परन्तु यदि अपने दोषोंका निरीक्षण करे, अपनी आत्माकी निन्दा करे, अहंभावसे रहित होकर विचार करे, तो सत्पुरुषके आश्रयसे आत्मलक्ष होता है।

मार्गके पानेमें अनन्त अन्तराय हैं। उनमें फिर 'मैंने यह किया' 'मैंने यह कैसा सुन्दर किया' इस प्रकारका अभिमान होता है। 'मैंने कुछ भी किया ही नहीं' यह दृष्टि रखनेसे ही वह अभिमान दूर होता है।

लौकिक और अलौकिक इस तरह दो भाव होते हैं। लौकिकसे संसार और अलौकिकसे मोक्ष होती है।

बाह्य इन्द्रियोंको वश किया हो तो सत्पुरुषके आश्रयसे अंतर्लक्ष हो सकता है। इस कारण बाह्य इन्द्रियोंको वशमें करना श्रेष्ठ है। बाह्य इन्द्रियाँ वशमें हो जाँय, और सत्पुरुषका आश्रय न हो तो लौकिकभावमें चले जानेकी सभावना रहती है।

उपाय किये बिना कोई रोग मिटता नहीं। इसी तरह जीवको लोभरूपी जो रोग है, उसका उपाय किये बिना वह दूर होता नहीं। ऐसे दोषके दूर करनेके लिये जीव जरा भी उपाय करता नहीं। यदि उपाय करे तो वह दोष हालमें ही भाग जाय। कारणको खडा करो तो ही कार्य होता है। कारण बिना कार्य नहीं होता।

सच्चे उपायको जीव खोजता नहीं। जीव ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको श्रवण करे तो उसकी एवजमें प्रतीति होती नहीं। 'मुझे लोभ छोड़ना है, ऐसी बीजभूत भावना हो तो दोष दर होकर अनुक्रमसे 'बीज-ज्ञान' प्रगट होता है।

प्रश्नः—आत्मा एक है अथवा अनेक ?

उत्तरः—यदि आत्मा एक ही हो तो पूर्वमें जो रामचन्द्रजी मुक्त हो गये हैं, उससे सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये। अर्थात् एककी मुक्ति हुई हो तो सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये, और तो फिर दूसरोंको सत्शास्त्र सद्गुरु आदि साधनोंकी भी आवश्यकता नहीं।

प्रश्न.—मुक्ति होनेके पश्चात्, क्या जीव एकाकार हो जाता है ?

उत्तर.—यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो स्वानुभव आनन्दका अनुभव करे नहीं। कोई पुरुष यहाँ आकर बैठा, और वह विदेह-मुक्त हो गया। बादमें दूसरा पुरुष यहाँ आकर बैठा, वह भी मुक्त हो गया। परन्तु इस तरह तीसरे चौथे सबके सब मुक्त हो नहीं जाते। आत्मा एक है, उसका आशय यह है कि सब आत्मायें वस्तुरूपसे तो समान हैं, परन्तु स्वतंत्र हैं, स्वानुभव करती हैं। इस कारण आत्मा भिन्न भिन्न हैं। "आत्मा एक है, इसलिये तुझे कोई दूसरी भ्रांति रखनेकी जरूरत नहीं! जगत् कुछ चीज़ ही नहीं, ऐसे भ्रान्तिरहित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है"—ऐसा जो कहता है, उसे विचारना चाहिये कि तब तो एककी मुक्तिसे जरूर सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये आत्मा भिन्न भिन्न हैं। जगत्की भ्रांति दूर हो गई, इससे ऐसा समझना नहीं कि चन्द्र सूर्य आदि ऊपरसे नीचे गिर पड़ते हैं। इसका आशय यही है कि आत्माकी विषयसे भ्रान्ति दूर हो गई है। रूढ़िसे कोई कल्याण नहीं। आत्माके शुद्ध विचारको प्राप्त किये बिना कल्याण होता नहीं।

माया-कपटसे झूठ बोलनेमें बहुत पाप है। वह पाप दो प्रकारका है। मान और धन प्राप्त करनेके लिये झूठ बोले तो उसमें बहुत पाप है। आजीविकाके लिये झूठ बोलना पड़ा हो, और पश्चात्ताप करे तो उसे पहिलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगता है।

बाप स्वयं पचास बरसका हो, और उसका बीस बरसका पुत्र मर जाय तो वह बाप उसके पास जो आभूषण होते हैं उन्हें निकाल लेता है! पुत्रके देहान्त-क्षणमें जो वैराग्य था, वह स्मशान वैराग्य था!

भगवान्ने किसी भी पदार्थको दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा दी नहीं। देहको धर्मका साधन मानकर उसे निबाहनेके लिये जो कुछ आज्ञा दी है, उतनी ही आज्ञा दी है; बाकी दूसरेको कुछ भी देनेकी आज्ञा दी नहीं। आज्ञा दी होती तो परिग्रहकी वृद्धि ही होती, और उससे अनुक्रमसे अन्न पानी आदि लाकर कुटुम्बका अथवा दूसरोंका पोषण करके, वह बड़ा दानवीर होता। इसलिये मुनिको विचार करना चाहिये कि तीर्थंकरने जो कुछ रखनेकी आज्ञा दी है, वह केवल तेरे अपने लिये ही है, और वह भी लौकिक दृष्टि छुड़ाकर संयममे लगनेके लिये ही दी है।

कोई मुनि गृहस्थके घरसे सुँई लाया हो, और उसके खो जानेसे वह उसे वापिस न दे, तो उसे तीन उपवास करने चाहिये—ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है। उसका कारण यही है कि वह मुनि उपयोगशून्य रहा है। यदि इतना अधिक बोझा मुनिके सिरपर न रक्खा जाता, तो उसका दूसरी वस्तुओंके भी लानेका मन होता, और वह कुछ समय बाद परिग्रहकी वृद्धि करके मुनिपनेको ही गुमा बैठता। ज्ञानीने इस प्रकारके जो कठिन मार्गका प्ररूपण किया है उसका यही कारण है कि वह जानता है कि यह जीव विश्वासका पात्र नहीं है। कारण कि वह भ्रान्तिवाला है। यदि कुछ छूट दी

होगी तो कालक्रमसे उस उस प्रकारमें विशेष प्रवृत्ति होगी, यह जानकर ज्ञानीने सुँई जैसी निर्जीव वस्तुके संबंधमें भी इस तरह आचरण करनेकी आज्ञा की है। लोककी दृष्टिमें तो यह बात साधारण है। परन्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें उतनी छूट भी जड़मूलसे नाश कर सके, इतनी बड़ी माळूम होती है।

ऋषभदेवजीके पास अट्ठानवें पुत्र यह कहनेके अभिप्रायसे आये थे कि 'हमें राज प्रदान करो।' वहाँ तो ऋषभदेवने उपदेश देकर अट्ठानवेंके अट्ठानवेंको ही मूँड लिया। देखो महान् पुरुषकी करुणा!

केशीस्वामी और गौतमस्वामी कैसे सरल थे! दोनोंने ही एक मार्गको जाननेसे पाँच महाव्रत ग्रहण किये थे। आजकलके समयमें दोनों पक्षोंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने। आजकलके ढूँढिया और तप्पा, तथा हरेक जुदे जुदे संघाडोंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने; उसमें कितना ही काल व्यतीत हो जाय। यद्यपि उसमें है कुछ भी नहीं, परन्तु असरलताके कारण वह संभव ही नहीं।

सत्पुरुष कुछ सत् अनुष्ठानका त्याग कराते नहीं, परन्तु यदि उसका आग्रह हुआ होता है तो आग्रह दूर करानेके लिये उसका एक बार त्याग कराते हैं। आग्रह दूर होनेके बाद पीछेसे उसे वे ग्रहण करनेको कहते हैं।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नग्न होकर चले गये है! कोई चक्रवर्ती राजा हो, उसने राज्यका त्याग कर दीक्षा ग्रहण की हो; और उसकी कुछ भूल हो गई, और कोई ऐसी बात हो कि उस चक्रवर्तीके राज्य-कालका दासीका कोई पुत्र उस भूलको सुधार सकता हो, तो उसके पास जाकर, चक्रवर्तीको उसके कथनके ग्रहण करनेकी आज्ञा की गई है। यदि उसे उस दासीके पुत्रके पास जाते समय ऐसा हो कि 'मै दासीके पुत्रके पास कैसे जाऊँ' तो उसे भटक भटककर मरना है। ऐसे कारणोंके उपस्थित होने-पर लोक-लाजको छोड़नेका ही उपदेश किया है, अर्थात् जहाँ आत्माको ऊँचे ले जानेका कोई अवसर हो, वहाँ लोक-लाज नहीं मानी गई। परन्तु कोई मुनि विषय-इच्छासे वेश्याके घर जाय, और वहाँ जाकर उसे ऐसा हो कि 'मुझे लोग देख लेंगे तो मेरी निन्दा होगी, इसलिये यहाँसे वापिस लौट चलना चाहिये' तो वहाँ लोक-लाज रखनेका विधान है। क्योंकि ऐसे स्थानमें लोक-लाजका भय खानेसे ब्रह्मचर्य रहता है, जो उपकारक है।

हितकारी क्या है, उसे समझना चाहिये। आठमकी तकरारको तिथिके लिये करना नहीं, परन्तु हरियालीके रक्षणके लिये ही तिथि पालनी चाहिये। हरियालीके रक्षणके लिये आठम आदि तिथि कही गई हैं, कुछ तिथिके लिये आठम आदिको कहा नहीं। इसलिये आठम आदि तिथिके कदाग्रहको दूर करना चाहिये। जो कुछ कहा है वह कदाग्रहके करनेके लिये कहा नहीं। आत्माकी शुद्धिसे जितना करोगे उतना ही हितकारी है। जितना अशुद्धिसे करोगे उतना ही अहितकारी है, इसलिये शुद्धतापूर्वक सद्व्रतका सेवन करना चाहिये।

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव, चाहे जो हो सब समान ही है। कोई जैन कहा-जाता हो और मतसे ग्रस्त हो तो वह अहितकारी है, मतरहित ही हितकारी है।

सामायिक-शास्त्रकारने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखनी होगी, तो पीछेसे विचार करेगा, नियम नहीं बाँधा हो तो दूसरे काममें पड़ जायगा, ऐसा समझकर उस प्रकारका नियम बाँधा।

१ तपगच्छवाले। —अनुवादक.

जैसा मनका परिणाम हो वैसा ही सामायिक होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो तो कर्मबंध होता है। मनका घोडा दौड़ता हो और सामायिक किया हो तो उसका फल कैसा हो ?

कर्मबंधको थोडा थोड़ा छोडनेकी इच्छा करे तो छूटे। जैसे कोई कोठी भरी हो, और उसमेंसे कण कण करके निकाला जाय तो वह अंतमें खाली हो जाती है। परन्तु दृढ़ इच्छासे कर्मोंको छोडना ही सार्थक है।

आवश्यक छह प्रकारके हैं:––सामायिक, चौवीसत्थो, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। सामायिक अर्थात् सावद्य-योगकी निवृत्ति।

वाचना (बॉचना), पृच्छना (पूँछना), परिवर्त्तना (फिर फिरसे विचार करना) और धर्मकथा (धर्मविषयक कथा करनी), ये चार द्रव्य हैं, और अनुप्रेक्षा ये भाव हैं। यदि अनुप्रेक्षा न आवे तो पहिले चार द्रव्य हैं।

अज्ञानी लोग ' आजकल केवलज्ञान नहीं है, मोक्ष नहीं है ' ऐसी हीन पुरुषार्थकी बातें करते हैं। ज्ञानीका वचन पुरुषार्थ प्रेरित करनेवाला होता है। अज्ञानी शिथिल है, इस कारण वह ऐसे हीन पुरुषार्थके वचन कहता है। पंचम कालकी, भवस्थितिकी अथवा आयुकी बातको मनमें लाना नहीं और इस तरहकी वाणी सुनना नहीं।

कोई हीन-पुरुषार्थी बातें करे कि उपादान कारणकी क्या जरूरत है ? पूर्वमें अशोच्याकेवली हो ही गये हैं। तो ऐसी बातोंसे पुरुषार्थ-हीन न होना चाहिये। सत्संग और सत् साधनके बिना कभी भी कल्याण होता नहीं। यदि अपने आपसे ही कल्याण होता हो, तो मिट्टीमेंसे स्वयं ही घड़ा उत्पन्न हो जाया करे। परन्तु लाखों वर्ष व्यतीत हो जायँ फिर भी मिट्टीमेंसे घड़ा स्वयं उत्पन्न होता नहीं। उसी तरह उपादान कारणके बिना कल्याण होता नहीं। शास्त्रका वचन है कि तीर्थंकरका संयोग हुआ और फिर भी कल्याण नहीं हुआ, उसका कारण पुरुषार्थ-रहितपना ही है। पूर्वमें उन्हे ज्ञानीका संयोग हुआ था फिर भी पुरुषार्थके बिना जैसे वह योग निष्फल चला गया, उसी तरह जो ज्ञानीका योग मिला है, और पुरुषार्थ न करो तो यह योग भी निष्फल ही चला जायगा। इसलिये पुरुषार्थ करना चाहिये, और तो ही कल्याण होगा। उपादान कारण श्रेष्ठ है।

ऐसा निश्चय करना चाहिये कि सत्पुरुषके कारण––निमित्तसे––अनंत जीव पार हो गये हैं। कारणके बिना कोई जीव पार होता नहीं। अशोच्याकेवलीको आगे पीछे वैसा संयोग मिला होगा। सत्संगके बिना समस्त जगत् डूब ही गया है।

मीराबाई महाभक्तिवान थी।

सुंदर आचरणवाले सुन्दर समागमसे समता आती है। समताके विचारके लिये दो घड़ी सामायिक करना कहा है। सामायिकमें मनके मनोरथको उल्टा सीधा चिंतन करे तो कुछ भी फल न हो। सामायिकका मनके दौड़ते हुए घोडेको रोकनेके लिये प्ररूपण किया है। एक पक्ष, संवत्सरीके दिवससंबंधी चौथकी तिथिका आग्रह करता है, और दूसरा पक्ष पाँचमकी तिथिका आग्रह करता है। आग्रह करनेवाले दोनों ही मिथ्यात्वी हैं। ज्ञानी-पुरुषोंने तिथियोंकी मर्यादा आत्माके लिये ही की है। क्योंकि यदि कोई एक दिन निश्चित न किया होता तो आवश्यक विधियोंका नियम रहता नहीं। आत्मार्थके लिये तिथिकी

मर्यादाका लाभ लेना चाहिये। बाकी तिथि-विथिके भेदको छोड़ ही देना चाहिये। ऐसी कल्पना करना नहीं, ऐसी भंगजालमें पड़ना नहीं।

आनन्दघनजीने कहा है:—

फळ अनेकांत लोचन न देखे,

फळ अनेकांत किरिया करी बापडा, रडवडे चार गतिमांहि लेखे।

अर्थात् जिस क्रियाके करनेसे अनेक फल हों वह क्रिया मोक्षके लिये नहीं है। अनेक क्रियाओंका फल मोक्ष ही होना चाहिये। आत्माके अंशोंके प्रगट होनेके लिये क्रियाओंका वर्णन किया गया है। यदि क्रियाओंका वह फल न हुआ हो तो वे सब क्रियाये ससारकी ही हेतु हैं।

'निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' ऐसा जो कहा है, उसका हेतु कषायको विस्मरण करानेका है, परन्तु लोग तो बिचारे एकदम आत्माको ही विस्मरण कर देते हैं।

जीवको देवगतिकी, मोक्षके सुखकी, और अन्य उस तरहकी कामनाकी इच्छा न रखनी चाहिये।

पंचमकालके गुरु कैसे होते हैं, उसका एक संन्यासीका दृष्टान्त:—

कोई सन्यासी अपने शिष्यके घर गया। ठंड बहुत पड़ रही थी। भोजन करने बैठनेके समय शिष्यने स्नान करनेके लिये कहा, तो गुरुने मनमे विचार किया कि 'ठंड बहुत पड रही है और इसमें स्नान करना पड़ेगा', यह विचार कर सन्यासीने कहा कि 'मैंने तो ज्ञान-गंगाजलमें स्नान कर लिया है'। शिष्य बुद्धिमान् था, वह समझ गया और उसने ऐसा रास्ता पकडा जिससे गुरुको कुछ शिक्षा मिले। शिष्यने गुरुजीको भोजन करनेके लिये मानपूर्वक बुला कर उन्हें भोजन कराया। प्रसाद लेनेके बाद गुरु महाराज एक कमरेमें सो गये। गुरुजीको जब प्यास लगी, तो उन्होंने शिष्यसे जल मॉगा। इसपर शिष्यने तुरत ही जवाब दिया, 'महाराज, आप ज्ञान-गंगामेंसे ही जल ले ले।' जब शिष्यने ऐसा कठिन रास्ता पकडा तो गुरुने स्वीकार किया कि 'मेरे पास ज्ञान नहीं है। देहकी साताके लिये ही मैंने स्नान न करनेके लिये ऐसा कह दिया था।'

मिथ्यादृष्टिके पूर्वके जप-तप अभीतक भी एक आत्महितार्थके लिये हुए नहीं।

आत्मा मुख्यरूपसे आत्मस्वभावसे आचरण करे, यह 'अध्यात्मज्ञान'। मुख्यरूपसे जिसमें आत्माका वर्णन किया हो वह 'अध्यात्मशास्त्र'। अक्षर (शब्द) अध्यात्मीका मोक्ष होता नहीं। जो गुण अक्षरोंमें कहे गये हैं, वे गुण यदि आत्मामे रहें तो मोक्ष हो जाय। सत्पुरुषोंमें भाव-अध्यात्म प्रगट रहता है। केवल वाणीके सुननेके लिये ही जो वचनोको सुने, उसे शब्द-अध्यात्मी कहना चाहिये। शब्द-अध्यात्मी लोग अध्यात्मकी बातें करते हैं और महा अनर्थकारक आचरण करते हैं। इस कारण उन जैसोंको ज्ञान-दग्ध कहना चाहिये। ऐसे अध्यात्मियोंको शुष्क और अज्ञानी समझना चाहिये।

ज्ञानी-पुरुषरूपी सूर्यके प्रगट होनेके पश्चात् सच्चे अध्यात्मी शुष्क रीतिसे आचरण करते नहीं, वे भाव-अध्यात्ममें ही प्रगटरूपसे रहते हैं। आत्मामें सच्चे सच्चे गुणोंके उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होती है। इस कालमें द्रव्य-अध्यात्मी ज्ञानदग्ध बहुत हैं। द्रव्य-अध्यात्मी केवल मंदिरके कलशकी शोभाके समान हैं।

मोह आदि विकार इस तरहके हैं कि जो सम्यग्दृष्टिको भी चलायमान कर टालते हैं, इसलिये तुम्हें तो ऐसा समझना चाहिये कि मोक्ष-मार्गके प्राप्त करनेमें वैसे अनेक विघ्न हैं। आयु तो थोडी है, और कार्य महाभारत करना है। जिस प्रकार नौका तो छोटी हो और बडा महासागर पार करना हो, उसी तरह आयु तो थोड़ी है और संसाररूपी महासागर पार करना है। जो पुरुष प्रभुके नामसे पार हुए हैं, उन पुरुषोंको धन्य है। अज्ञानी जीवको खबर नहीं कि अमुक जगह गिरनेकी है, परन्तु वह ज्ञानियोंद्वारा देखी हुई है। अज्ञानी—द्रव्य-अध्यात्मी—कहते हैं कि मेरेमें कषाय नहीं है। सम्यग्दृष्टि चैतन्य-संयोगसे ही है।

कोई मुनि गुफामें ध्यान करनेके लिये जा रहे थे। वहाँ एक सिंह मिल गया। मुनिके हाथमें एक लकड़ी थी। 'सिंहके सामने यदि लकड़ी उठाई जाय तो सिंह भाग जायगा,' इस प्रकार मनमें होनेपर मुनिको विचार आया कि 'मैं आत्मा अजर अमर हूँ, देहसे प्रेम रखना योग्य नहीं। इसलिये हे जीव! यहीं खड़ा रह। सिंहका जो भय है वही अज्ञान है। देहमें मूर्च्छाके कारण ही भय है,' इस प्रकारकी भावना करते करते वे दो घड़ीतक वहीं खड़े रहे, कि इतनेमें केवलज्ञान प्रगट हो गया। इसलिये विचार विचार दशामें बहुत ही अन्तर है।

उपयोग जीवके बिना होता नहीं। जड़ और चैतन्य इन दोनोंमें परिणाम होता है। देहधारी जीवमें अध्यवसायकी प्रवृत्ति होती है, संकल्प-विकल्प उपस्थित होते हैं, परन्तु निर्विकल्पपना ज्ञानसे ही होता है। अध्यवसायका ज्ञानसे क्षय होता है। यही ध्यानका हेतु है। परन्तु उपयोग रहना चाहिये।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान उत्तम कहे जाते हैं। आर्त और रौद्रध्यान मिथ्या कहे जाते हैं। बाह्य उपाधि ही अध्यवसाय है। उत्तम लेश्या हो तो ध्यान कहा जाता है, और आत्मा सम्यक् परिणाम प्राप्त करती है।

माणेकदासजी एक वेदान्ती थे। उन्होंने मोक्षकी अपेक्षा सत्संगको ही अधिक यथार्थ माना है। उन्होंने कहा है—

निज छंदनसे ना मिले, हीरो वैकुंठ धाम।
संतकृपासे पाईये, सो हरि सबसे ठाम।

कुगुरु और अज्ञानी पाखंडियोंका इस कालमें पार नहीं।

बड़े बड़े वरघोडा चढ़ावे, और द्रव्य खर्च करे—यह सब ऐसा जानकर कि मेरा कल्याण होगा। ऐसा समझकर हजारों रुपये खर्च कर डालता है। एक एक पैसेको झूठ बोल बोलकर तो इकट्ठा करता है और एक ही साथ हजारों रुपये खर्च कर देता है! देखो, जीवका कितना अविवेक अज्ञान! कुछ विचार ही नहीं आता!

आत्माका जैसा स्वरूप है, उसके उसी स्वरूपको 'यथाख्यात चारित्र' कहा है। भय अज्ञानसे है। सिंहका भय सिंहिनीको होता नहीं। नागका भय नागिनीको होता नहीं। इसका कारण यही है कि उनका अज्ञान दूर हो गया है।

जबतक सम्यक्त्व प्रगट न हो तबतक मिथ्यात्व है, और जब मिश्र गुणस्थानकका नाश हो जाय तब सम्यक्त्व कहा जाता है। समस्त अज्ञानी पहिले गुणस्थानकमें हैं।

सत्शास्त्र-सद्गुरुके आश्रयसे जो संयम होता है, उसे 'सरागसंयम' कहा जाता है। निवृत्ति अनिवृत्तिस्थानकका अन्तर पड़े तो सरागसंयममेंसे 'वीतरागसंयम' पैदा होता है। उसे निवृत्ति अनिवृत्ति दोनों ही बराबर हैं। स्वच्छंदसे कल्पना होना 'भ्रान्ति' है। 'यह तो इस तरह नहीं, इस तरह होगा' इस प्रकारका भाव 'शंका' है। समझनेके लिये विचार करके पूँछनेको 'आशंका' कहते हैं।

अपने आपसे जो समझमें न आवे, वह 'आशंका मोहनीय है'। सच्चा जान लिया हो और फिर भी सच्चा सच्चा भाव न आवे, वह भी 'आशंका मोहनीय' है। अपने आपसे जो समझमे न आवे उसे पूँछना चाहिये। मूलस्वरूप जाननेके पश्चात् उत्तर विषयके संबंधमें यह किस तरह होगा, इस प्रकार जाननेके लिये जिसकी आकांक्षा हो उसका सम्यक्त्व नष्ट होता नहीं; अर्थात् वह पतित होता नहा। मिथ्या भ्रान्तिका होना शंका है। मिथ्या प्रतीति अनतानुबंधीमे ही गर्भित हो जाती है। नासमझीसे दोषका देखना मिथ्यात्व है। क्षयोपशम अर्थात् क्षय और उपशम हो जाना।

(६) राळजका बाह्य प्रदेश, बड़के नीचे दोपरके दो बजे

यदि ज्ञान-मार्गका आराधन करे तो रास्ते चलते हुए भी ज्ञान हो जाता है। समझमें आ जाय तो आत्मा सहजमें ही प्रगट हो जाय, नहीं तो ज़िन्दगी बीत जाय तो भी प्रगट न हो। केवल माहात्म्य समझना चाहिये। निष्काम बुद्धि और भक्ति चाहिये। अतःकरणकी शुद्धि हो तो ज्ञान स्वतः ही उत्पन्न हो जाता। यदि ज्ञानीका परिचय हो तो ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यदि किसी जीवको योग्य देखे तो ज्ञानी उसे कहता है कि समस्त कल्पना छोड़ देने जैसी ही हैं। ज्ञान ले। ज्ञानीको जीव यदि ओघ-संज्ञासे पहिचाने तो यथार्थ ज्ञान होता नहीं।

जब ज्ञानीका त्याग—दृढ़ त्याग—आवे अर्थात् जैसा चाहिये वैसा यथार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे, तो माया भुला देती है, इसलिये बराबर जागृत रहना चाहिये; और मायाको दूर करते रहना चाहिये। ज्ञानीके त्याग—ज्ञानीके बताये हुए त्याग—के लिये कमर कसकर तैय्यार रहना चाहिये।

जब सत्संग हो तब माया दूर रहती है। और सत्संगका संयोग दूर हुआ कि वह फिर तैय्यारकी तैय्यार खड़ी है। इसलिये बाह्य उपाधिको कम करना चाहिये। इससे विशेष सत्संग होता है। इस कारणसे बाह्य त्याग करना श्रेष्ठ है।

ज्ञानीको दुःख नहीं। अज्ञानीको ही दुःख है। समाधि करनेके लिये सदाचरणका सेवन करना चाहिये। जो नकली रग है वह तो नकली ही है। असली रग ही सदा रहता है। ज्ञानीके मिलनेके पश्चात् देह छूट गई, अर्थात् देह धारण करना नहीं रहता, ऐसा समझना चाहिये। ज्ञानीके वचन प्रथम तो कड़ुवे लगते हैं, परन्तु पीछेसे मालूम होता ह कि ज्ञानी-पुरुष संसारके अनन्त दुःखोंको दूर करता है। जैसे औषध कड़ुवी तो होती है, परन्तु वह दीर्घकालके रोगको दूर कर देती है।

त्यागके ऊपर हमेशा लक्ष रखना चाहिये। त्यागको शिथिल नहीं रखना चाहिये। श्रावकको तीन मनोरथ चिंतवन करने चाहिये। सत्यमार्गकी आराधना करनेके लिये मायासे दूर रहना चाहिये। त्याग करते ही जाना चाहिये। माया किस तरह भुला देती है, उसका एक दृष्टान्तः—

एक संन्यासी कहा करता था कि 'मैं मायाको घुसनेतक भी न दूँगा, मैं नग्न होकर विचरूँगा'। मायाने कहा कि 'मैं तेरे आगे आगे चलूँगी'। सन्यासीने कहा कि 'मैं जंगलमें अकेला विचरूँगा'। मायाने कहा 'मैं सामने आ जाऊँगी'। इस तरह वह सन्यासी जंगलमें रहता, और 'मुझे कंकड़ और रेत दोनों समान हैं' यह कहकर रेतपर सोया करता। एक दिन उसने मायासे पूँछा कि बोल अब तू कहाँ है? मायाने समझ लिया कि इसे गर्व बहुत चढ़ रहा है, इसलिये उसने उत्तर दिया कि मेरे आनेकी ज़रूरत क्या है? मैं अपने बड़े पुत्र अहंकारको तेरी खिदमतमें भेज ही चुकी हूँ।

माया इस तरह ठगती है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि 'मैं सबसे न्यारा हूँ, सर्वथा त्यागी हो गया हूँ, अवधूत हूँ, नग्न हूँ, तपश्चर्या करता हूँ। मेरी बात अगम्य है। मेरी दशा बहुत ही श्रेष्ठ है। माया मुझे रोकेगी नहीं' ऐसी मात्र कल्पनासे मायाद्वारा ठगाये जाना नहीं चाहिये।

स्वच्छंदमें अहंकार है। जबतक राग-द्वेष दूर होते नहीं तबतक तपश्चर्या करनेका फल ही क्या है? 'जनकविदेहीमें विदेहीपना हो नहीं सकता, यह केवल कल्पना है। संसारमें विदेहीपना रहता नहीं,' ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। अपनापन दूर हो जानेसे उस तरह रहा जा सकता है। जनकविदेहीकी दशा उचित है। जब वसिष्ठजीने रामको उपदेश दिया, उस समय राम गुरुको राज्य अर्पण करने लगे, परन्तु गुरुने राज्य लिया ही नहीं। शिष्य और गुरु ऐसे होने चाहिये।

अज्ञान दूर करना है। उपदेशसे अपनापन दूर हटाना है। जिसका अज्ञान गया उसका दुःख चला गया।

ज्ञानी गृहस्थावासमें बाह्य उपदेश व्रत देते नहीं। जो गृहस्थावासमें हों ऐसे परमज्ञानी मार्ग चलाते नहीं, मार्ग चलानेकी रीतिसे मार्ग चलाते नहीं, स्वयं अविरत रहकर व्रत ग्रहण कराते नहीं, क्योंकि वैसा करनेसे बहुतसे कारणोंमें विरोध आना संभव है।

सकाम भक्तिसे ज्ञान होता नहीं। निष्काम भक्तिसे ज्ञान होता है। ज्ञानीके उपदेशमें अद्भुतता है। वे अनिच्छाभावसे उपदेश देते हैं, स्पृहारहित होते हैं। उपदेश ज्ञानका माहात्म्य है। माहात्म्यके कारण अनेक जीव बोध पाते हैं।

अज्ञानीका सकाम उपदेश होता है, जो संसारके फलका कारण है। जगत्में अज्ञानीका मार्ग अधिक है। ज्ञानीको मिथ्याभाव क्षय हो गया है, अहंभाव दूर हो गया है। इसलिये उसके अमूल्य वचन निकलते हैं। बाल-जीवोंको ज्ञानी-अज्ञानीकी पहिचान होती नहीं।

आचार्यजीने जीवोंको स्वभावसे प्रमादी जानकर, दो दो तीन तीन दिनके अन्तरसे नियम पालनेकी आज्ञा की है। तिथियोंके लिये मिथ्याग्रह न रख उसे छोड़ना ही चाहिये। कदाग्रह छुड़ानेके लिये तिथियाँ बनाई हैं, परन्तु उसके बदले उसी दिन कदाग्रह बढ़ता है। हालमें बहुत वर्षोंसे पर्यूषणमें तिथियोंकी भ्रान्ति चला करती है। तिथियोंके नियमोंको लेकर तकरार करना मोक्ष जानेका रास्ता नहीं। कचित् पाँचमका दिन न पाला जाय, और कोई छठका दिन पाले,

और आत्मामें कोमलता हो तो वह फलदायक होता है। जिससे वास्तवमें पाप लगता है, उसे रोकना अपने हाथमें है, यह अपनेसे बन सकने जैसा है; उसे जीव रोकता नहीं, और दूसरी तिथि आदिकी योंही फिक्र किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शका मोह रहता आया है, उस मोहको दूर करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अविरतिके पापकी चिंता होती हो उससे वहाँ रहा ही कैसे जा सकता है?

स्वयं त्याग कर सकता नहीं और बहाना बनावे कि मुझे अन्तराय बहुत हैं। जब धर्मका प्रसंग आवे तो कहता है कि 'उदय है'। 'उदय उदय' कहा करता है, परन्तु कुछ कुवेमें गिर पडता नहीं। गाड़ीमें बैठा हो, और गड्ढा आ जावे तो सहजमें सँभलकर चलता है। उस समय उदयको भूल जाता है। अर्थात् अपनी तो शिथिलता हो, उसके बदले उदयका दोष निकालता है।

लौकिक और लोकोत्तर विचार जुदा जुदा होता है। उदयका दोष निकालना यह लौकिक विचार है। अनादि कालके कर्म तो दो घड़ीमें नाश हो जाते हैं, इसलिये कर्मका दोष निकालना चाहिये नहीं; आत्माकी ही निन्दा करनी चाहिये। धर्म करनेकी बात आवे तो जीव पूर्व कर्मके दोषकी बातको आगे कर देता है। पुरुषार्थ करना ही श्रेष्ठ है। पुरुषार्थको पहिले करना चाहिये। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योगका त्याग करना चाहिये।

कर्मोंके दूर किये बिना कर्म दूर होनेवाले नहीं। इतनेके लिये ही ज्ञानियोने शास्त्रोंकी रचना की है। शिथिल होनेके साधन नहीं बताये। परिणाम ऊँचे आने चाहिये। कर्म उदयमे आवेगा, यह मनमें रहे तो कर्म उदयमें आता है। बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाय। जिससे उपकार हो वही लक्ष रखना चाहिये।

(७) वडवा, सवेरे ११ बजे भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९५२

कर्म गिन गिनकर नाश किये नहीं जाते। ज्ञानी-पुरुष तो एक साथ ही सबके सब इकट्ठे कर नाश कर देता है।

विचारवानको दूसरे आलंबन छोड़कर, जिससे आत्माके पुरुषार्थका जय हो, वैसा आलंबन लेना चाहिये। कर्म-बंधनका आलंबन नहीं लेना चाहिये। आत्मामें परिणाम हो वह अनुप्रेक्षा है।

मिट्टीमें घड़े बननेकी सत्ता है, परन्तु जब दंड, चक्र, कुम्हार आदि इकट्ठे हों तभी तो। इसी तरह आत्मा मिट्टीरूप है, उसे सद्गुरु आदिका साधन मिले तो ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। जो ज्ञान हुआ हो वह, पूर्वकालीन ज्ञानियोंने जो ज्ञान सम्पादन किया है, उसके साथ और वर्तमानमें जो ज्ञान ज्ञानी-पुरुषोंने सम्पादन किया है, उसके साथ पूर्वापर सबद्ध होना चाहिये, नहीं तो अज्ञानको ही ज्ञान मान लिया है, ऐसा कहा जायगा।

ज्ञान दो प्रकारके है:—एक बीजभूत ज्ञान और दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों ही समान हैं, उनमें भेद नहीं। वृक्षभूत—सर्वथा निरावरण ज्ञान—हो तो उसी भवसे मोक्ष हो जाय, और बीजभूत ज्ञान हो तो अन्तमें पन्द्रह भवमें मोक्ष हो।

आत्मा अरूपी है, अर्थात् वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरहित वस्तु है—अवस्तु नहीं।

जिसने षड्दर्शनोंकी रचना की है, उसने बहुत बुद्धिमानीका उपयोग किया है।

बंध अनेक अपेक्षाओंसे होता है, परन्तु मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। वे कर्मकी आँटीको उधेड़नेके लिये आठ प्रकारकी कही हैं।

आयु कर्म एक ही भवका बँधता है। अधिक भवकी आयु बँधती नहीं। यदि अधिक भवकी आयु बँधे तो किसीको भी केवलज्ञान उत्पन्न न हो।

ज्ञानी-पुरुष समतासे कल्याणका जो स्वरूप बताता है, वह उपकारके लिये ही बताता है। ज्ञानी-पुरुष मार्गमें भूले भटके हुए जीवको सीधा रास्ता बताते हैं। जो ज्ञानीके मार्गसे चले उसका कल्याण हो जाय। ज्ञानीके विरह होनेके पश्चात् बहुत काल चला जानेसे अर्थात् अंधकार हो जानेसे अज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है, और ज्ञानी-पुरुषोंके वचन समझमें नहीं आते। इससे लोगोंको उल्टा ही भासित होता है। समझमें न आनेसे लोग गच्छके भेद बना लेते हैं। गच्छके भेद ज्ञानियोंने बनाये नहीं। अज्ञानी मार्गका लोप करता है। ज्ञानी हो तो मार्गका उद्योत करता है। अज्ञानी ज्ञानीके सामने होते हैं। मार्गके सन्मुख होना चाहिये।

बाल और अज्ञानी जीव छोटी छोटी बातोंमें भेद बना लेते हैं। तिलक और मुँहपत्ती वगैरहके आग्रहमें कल्याण नहीं। अज्ञानीको मतभेद करते हुए देर लगती नहीं। ज्ञानी-पुरुष रूढ़ि-मार्गके बदले शुद्ध-मार्गका प्ररूपण करते हों तो ही जीवको जुदा भासित होता है, और वह समझता है कि यह अपना धर्म नहीं। जो जीव कदाग्रहरहित हो, वह शुद्ध मार्गका आदर करता है। विचारवानोको तो कल्याणका मार्ग एक ही होता है। अज्ञान मार्गके अनन्त भेद हैं।

जैसे अपना लड़का कुबड़ा हो और दूसरेका लड़का अतिरूपवान हो, परन्तु प्रेम अपने लड़केपर ही होता है, और वही अच्छा भी लगता है; उसी तरह जो कुल-धर्म अपने आपने स्वीकार किया है, वह चाहे कैसा भी दूषणयुक्त हो, तो भी वही सच्चा लगता है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन आदि चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाग्रहरहित भावसे शुद्ध समतासे आवरणोंको घटावेगा उसीका कल्याण होगा।

(कायाकी) सामायिक कायाके रोगको रोकती है; आत्माके निर्मल करनेके लिये कायाके योगको रोकना चाहिये। रोकनेसे परिणाममें कल्याण होता है। कायाकी सामायिक करनेकी अपेक्षा एकबार तो आत्माकी सामायिक करो। ज्ञानी-पुरुषके वचन सुन सुनकर गाँठ बाँधो, तो आत्माकी सामायिक होगी। मोक्षका उपाय अनुभवगोचर है। जैसे अभ्यास करते करते आगे बढ़ते हैं, वैसे ही मोक्षके लिये भी समझना चाहिये।

जब आत्मा कोई भी क्रिया न करे तब अबंध कहा जाता है।

पुरुषार्थ करे तो कर्मसे मुक्त हो। अनन्तकालके कर्म हों और यदि जीव यथार्थ पुरुषार्थ करे, तो कर्म यह नहीं कहता कि मैं नहीं जाता। दो घड़ीमें अनन्त कर्म नाश हो जाते हैं। आत्माकी पहिचान हो तो कर्मोंका नाश हो जाय।

प्रश्न.—सम्यक्त्व किससे प्रगट होता है ?

उत्तर.—आत्माका यथार्थ लक्ष हो उससे। सम्यक्त्व दो तरहका है:—१ व्यवहार और २

परमार्थ। सद्गुरुके वचनोका सुनना, उन वचनोंका विचार करना, उनकी प्रतीति करना, वह 'व्यवहार सम्यक्त्व' है। आत्माकी पहिचान होना वह 'परमार्थ सम्यक्त्व' है।

अन्तःकरणकी शुद्धिके विना बोध असर करता नहीं; इसलिये प्रथम अंतःकरणमें कोमलता लानी चाहिये। व्यवहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामें आग्रहरहित रहना चाहिये—मध्यस्थ भावसे रहना चाहिये। आत्माके स्वभावका जो आवरण है, उसे ज्ञानी 'कर्म' कहते हैं।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय, ये सात प्रकृतियाँ जब क्षय हो जाँय, उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है।

प्रश्नः—कषाय क्या है?

उत्तरः—सत्पुरुष मिलनेपर जीवको बताते हैं कि तू जो विचार किये विना करता जाता है, उसमें कल्याण नहीं, फिर भी उसे करनेके लिये जो दुराग्रह रखता है, वह कषाय है।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने, और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने वह 'मिथ्यात्व मोहनीय' है। उन्मार्गसे मोक्ष होता नहीं, इसलिये मार्ग कोई दूसरा ही होना चाहिये—ऐसे भावको 'मिश्र मोहनीय' कहते है। 'आत्मा यह होगी'—ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' है। 'आत्मा है'—ऐसा निश्चयभाव 'सम्यक्त्व' है।

नियमसे जीव कोमल होता है। दया आती है। मनके परिणाम उपयोगसहित हों तो कर्म कम लगें, और यदि उपयोगरहित हो तो अधिक लगें। अंतःकरणको कोमल करनेके लिये—शुद्ध करनेके लिये—व्रत आदि करनेका विधान किया है। स्वाद-बुद्धिको कम करनेके लिये नियम करना चाहिये। कुल-धर्म, जहाँ जहाँ देखते हैं वहाँ वहाँ रास्तेमें आता है।

(८) वडवा, भाद्रपद सुदी १२ शनि. १९५२

लौकिक दृष्टिमें वैराग्य भक्ति नहीं है, पुरुषार्थ करना और सत्य रीतिसे आचरण करना ध्यानमे ही आता नहीं। उसे तो लोग भूल ही गये हैं।

लोग, जब बरसात आती है तो पानीको टकीमें भरकर रख लेते हैं, वैसे ही मुमुक्षु जीव इतना इतना उपदेश सुनकर उसे जरा भी ग्रहण करता नहीं, यह एक आश्चर्य है। उसका उपकार किस तरह हो?

ज्ञानियोंने दोषके घटानेके लिये अनुभवके वचन कहे हैं, इसलिये वैसे वचनोंका स्मरण कर यदि उन्हें समझा जाय—उनका श्रवण-मनन हो—तो सहज ही आत्मा उज्वल हो जाय। वैसा करनेमें कुछ बहुत मेहनत नहीं है। उन वचनोंका विचार न करे तो कभी भी दोष घटे नहीं।

सदाचार सेवन करना चाहिये। ज्ञानी-पुरुषोंने दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिमाण वगैरहको सदाचार कहा है। ज्ञानियोंने जिन सदाचारोंका सेवन करना बताया है, वे यथार्थ हैं—सेवन करने योग्य हैं। विना साक्षीके जीवको व्रत-नियम करने चाहिये नहीं।

विषय कषाय आदि दोषोंके गये विना जब सामान्य आशयवाले दया आदि भी आते नहीं, तो फिर

गहन आशयवाले दया वगैरह तो कहाँसे आवे ? विषय कषायसहित मोक्ष जाते नहीं। अंतःकरणकी शुद्धिके बिना आत्मज्ञान होता नहीं। भक्ति सब दोषोंका क्षय करनेवाली है, इसलिये वह सर्वोत्कृष्ट है।

जीवको विकल्पका व्यापार करना चाहिये नहीं। विचारवानको अविचार और अकार्य करते हुए क्षोभ होता है। अकार्य करते हुए जिसे क्षोभ न हो वह अविचारवान है।

अकार्य करते हुए प्रथम जितना कष्ट रहता है उतना कष्ट दूसरी बार करते हुए रहता नहीं। इसलिये पहिलेसे ही अकार्य करनेसे रुकना चाहिये—दृढ़ निश्चय कर अकार्य करना चाहिये नहीं।

सत्पुरुष उपकारके लिये जो उपदेश करते हैं, उसे श्रवण करे और उसका विचार करे, तो अवश्य ही जीवके दोष घटें। पारस मणिका संयोग हुआ, और पत्थरका सोना न बना, तो या तो असली पारसमणि ही नहीं, या असली पत्थर ही नहीं। उसी तरह जिसके उपदेशसे आत्मा सुवर्णमय न हो, तो या तो उपदेष्टा ही सत्पुरुष नहीं और या उपदेश लेनेवाला ही योग्य जीव नहीं। जीव योग्य हो और सत्पुरुष सच्चा हो तो गुण प्रगट हुए बिना नहीं रहें।

लौकिक आलम्बन कभी करना ही नहीं चाहिए। जीव स्वयं जागृत हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जाँय। जैसे कोई पुरुष घरमें नींदमें पड़ा सो रहा है, उसके घरमें कुत्ते बिल्ली वगैरह घुस कर नुकसान कर जाय, और बादमें जागनेके बाद वह पुरुष नुकसान करनेवाले कुत्ते आदि प्राणियोंका दोष निकाले, किन्तु अपना दोष निकाले नहीं कि मैं सो गया था इसीलिये ऐसा हुआ है; इसी तरह जीव अपने दोषोंको देखता नहीं। स्वयं जागृत रहता हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जाँय, इसलिये स्वयं जागृत रहना चाहिये।

जीव ऐसा कहता है कि मेरे तृष्णा, अहंकार, लोभ आदि दोष दूर होते नहीं, अर्थात् जीव अपने दोष निकालता नहीं, और दोषोंके ही दोष निकालता है। जैसे गरमी बहुत पड़ रही हो और इसलिये बाहर न निकल सकते हों, तो जीव सूर्यका दोष निकालता है, परन्तु वह छतरी और जूते, जो सूर्यके तापसे बचनेके लिये बताये हैं, उनका उपयोग करता नहीं। ज्ञानी-पुरुषोंने लौकिक भाव छोड़कर जिस विचारसे अपने दोष घटाये हैं—नाश किये हैं—उन विचारोंको और उन उपायोंको ज्ञानियोंने उपकारके लिये कहा है। उन्हें श्रवण कर जिससे आत्मामें परिणाम हो, वैसा करना चाहिये।

किस तरहसे दोष घट सकता है ? जीव लौकिक भावोंको तो किये चला जाता है, और दोष क्यों घटते नहीं, ऐसा कहा करता है।

मुमुक्षुओंको जागृत अति जागृत होकर वैराग्यको बढ़ाना चाहिये। सत्पुरुषके एक वचनको सुनकर यदि अपनेमें दोषोंके रहनेके कारण बहुत ही खेद करेगा, और दोषको घटावेगा तो ही गुण प्रगट होगा। सत्संग-समागमकी आवश्यकता है। बाकी सत्पुरुष तो, जैसे एक मार्गदर्शक दूसरे मार्गदर्शकको रास्ता बताकर चला जाता है, उसी तरह रास्ता बताकर चला जाता है। शिष्य बनानेकी सत्पुरुषकी इच्छा नहीं। जिसे दुराग्रह दूर हुआ उसे आत्माका भान होता है। भ्रान्ति दूर हो तो तुरत ही सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय।

बाहुबलिजीको, जैसे केवलज्ञान पासमें ही—अंतरमें ही—था कुछ बाहर न था, उसी तरह सम्यक्त्व अपने पास ही है।

जीव अहंकार रखता है, असत् वचन बोलता है, भ्रान्ति रखता है, उसका उसे बिलकुल भी भान नहीं। इस भानके हुए बिना निस्तारा होनेवाला नहीं।

शूरवीर वचनोंको दूसरा एक भी वचन नहीं पहुँचता। जीवको सत्पुरुषका एक शब्द भी समझमें नहीं आया। बड़प्पन रुकावट डालता हो तो उसे छोड़ देना चाहिये। कदाग्रहमें कुछ भी हित नहीं। हिम्मत करके आग्रह—कदाग्रहसे—दूर रहना चाहिये, परन्तु विरोध करना चाहिये नहीं।

जब ज्ञानी-पुरुष होते हैं, तब मतभेद कदाग्रह घटा देते हैं। ज्ञानी अनुकंपाके लिये मार्गका बोध करता है। अज्ञानी कुगुरु जगह जगह मतभेदको बढ़ाकर कदाग्रहको सतर्क कर देते हैं।

सच्चे पुरुष मिलें और वे जो कल्याणका मार्ग बतावें उसीके अनुसार जीव आचरण करे, तो अवश्य कल्याण हो जाय। मार्ग विचारवानसे पूँछना चाहिये। सत्पुरुषके आश्रयसे श्रेष्ठ आचरण करना चाहिये। खोटी बुद्धि सबको हैरान करनेवाली है, वह पापकी करनेवाली है। जहाँ ममत्व हो वहीं मिथ्यात्व है। श्रावक सब दयालु होते हैं। कल्याणका मार्ग एक होता है, सौ दोसौ नहीं होते। भीतरका दोष नाश होगा, और सम-परिणाम आवेगा, तो ही कल्याण होगा।

जो मतभेदका छेदन करे वही सत्पुरुष है। जो सम-परिणामके रास्तेमें चढ़ावे वही सत्संग है। विचारवानको मार्गका भेद नहीं।

हिन्दू और मुसलमान समान नहीं हैं। हिन्दूओंके धर्मगुरु जो धर्म-बोध कह गये थे, वे उसे बहुत उपकारके लिये कह गये थे। वैसा बोध पीराणा[1] मुसलमानोंके शास्त्रोंमें नहीं। आत्मापेक्षासे तो कुनबी, बनिये, मुसलमान कुछ भी नहीं हैं। उसका भेद जिसे दूर हो गया वही शुद्ध है; भेद भासित होना, यही अनादिकी भूल है। कुलाचारके अनुसार जो सच्चा मान लिया, वही कषाय है।

प्रश्न.—मोक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर—आत्माकी अत्यंत शुद्धता, अज्ञानसे छूट जाना, सब कर्मोंसे मुक्त होना मोक्ष है। याथातथ्य ज्ञानके प्रगट होनेपर मोक्ष होता है। जबतक भ्रान्ति रहे तबतक आत्मा जगत्में रहती है। अनादिकालका जो चेतन है उसका स्वभाव जानना—ज्ञान—है, फिर भी जीव जो भूल जाता है, वह क्या है? जाननेमें न्यूनता है। याथातथ्य ज्ञान नहीं है। वह न्यूनता किस तरह दूर हो? उस जानने-रूप स्वभावको भूल न जाय, उसे बारंबार दृढ करे, तो न्यूनता दूर हो सकती है।

ज्ञानी-पुरुषके वचनोंका अवलम्बन लेनेसे ज्ञान होता है। जो साधन हैं वे उपकारके हेतु हैं। अधिकारीपना सत्पुरुषके आश्रयसे ले तो साधन उपकारके हेतु हैं। सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलनेसे ज्ञान होता है। सत्पुरुषके वचनोंके आत्मामें निष्पन्न होनेपर मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, अशुभ योग इत्यादि समस्त दोष अनुक्रमसे शिथिल पड़ जाते हैं। आत्मज्ञान विचारनेसे दोष नाश होते हैं। सत्पुरुष पुकार पुकारकर कह गये हैं; परन्तु जीवको तो लोक-मार्गमें ही पड़ा रहना है, और लोकोत्तर कहलवाना है; और दोष क्यों दूर होते नहीं, केवल ऐसा ही कहते रहना है। लोकका भय

१. पीराणा नामका मुसल्मानोंका एक पंथ है, जिसके हिन्दू और मुसलमान दोनों अनुयायी होते हैं। श्रीयुत मित्र मणिलाल केशवलाल परिखका कहना है कि अहमदाबादसे कुछ मीलके फासलेपर पीराणा नामक एक गाँव है, जहाँ इन लोगोंकी बस्ती पाई जाती है।—अनुवादक.

छोड़कर सत्पुरुषोंके वचनोंको आत्मामें परिणमन करे, तो सब दोष दूर हो जाँय। जीवको अपनापन लाना ही न चाहिये। बड़ाई और महत्ता छोड़े बिना आत्मामें सम्यक्त्वके मार्गका परिणाम होना कठिन है।

वेदांतशास्त्र वर्तमानमें स्वच्छंदतासे पढ़नेमें आते हैं, और उससे शुष्कता जैसा हो जाता है। षड्दर्शनमें झगड़ा नहीं, परन्तु आत्माको केवल मुक्त-दृष्टिसे देखनेपर तीर्थंकरने लंबा विचार किया है। मूल लक्ष होनेसे जो जो वक्ताओं (सत्पुरुषों) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा माळूम होगा।

आत्माको कभी भी विकार उत्पन्न न हो, तथा राग-द्वेष परिणाम न हो, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है। षट्दर्शनवालोंने जो विचार किया है, उससे आत्माका उन्हें भान होता है—तारतम्य भावमें भेद पड़ता है। षड्दर्शनको अपनी समझसे बैठावें तो कभी भी बैठे नहीं। उसका बैठना सत्पुरुषके आश्रयसे ही होता है। जिसने आत्माका असंग निष्क्रिय विचार किया हो, उसे भ्रान्ति होती नहीं—संशय होता नहीं, आत्माके अस्तित्वके संबंधमें शंका रहती नहीं।

प्रश्नः—सम्यक्त्व कैसे माळूम होता है ?

उत्तरः—जब भीतरसे दशा बदले, तब सम्यक्त्वकी खबर स्वयं ही पड़ती है। सद्देव अर्थात् राग-द्वेष और अज्ञान जिसके क्षय हो गये हैं। सद्गुरु कौन कहा जाता है ? मिथ्यात्वकी ग्रन्थि जिसकी छिन्न हो गई है। सद्गुरु अर्थात् निर्ग्रंथ। सद्धर्म अर्थात् ज्ञानी-पुरुषोंद्वारा बोध किया हुआ धर्म। इन तीनों तत्त्वोंको यथार्थ रीतिसे जाननेपर सम्यक्त्व हुआ समझा जाना चाहिये।

अज्ञान दूर करनेके लिये कारण (साधन) बताये हैं। ज्ञानका स्वरूप जिस समय जान ले उस समय मोक्ष हो जाय।

परम वैदरूपी सद्गुरु मिले और उपदेशरूपी दवा आत्मामें लगे तो रोग दूर हो। परन्तु उस दवाको जीव यदि अन्तरमें न उतारे, तो उसका रोग कभी भी दूर होता नहीं। जीव सच्चे सच्चे साधनोंको करता नहीं। जैसे समस्त कुटुम्बको पहिचानना हो तो पहिले एक आदमीको जाननेसे सबकी पहिचान हो जाती है, उसी तरह पहिले सम्यक्त्वकी पहिचान हो तो आत्माके समस्त गुणोंरूपी कुटुम्बकी पहिचान हो जाती है। सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट साधन बताया है। बाह्य वृत्तियोंको कम करके जीव अंतर्परिणाम करे तो सम्यक्त्वका मार्ग आवे। चलते चलते ही गाँव आता है, बिना चले गाँव नहीं आ जाता। जीवको यथार्थ सत्पुरुषोंकी प्रतीति हुई नहीं।

बहिरात्मामेंसे अन्तरात्मा होनेके पश्चात् परमात्मभाव प्राप्त होना चाहिये। जैसे दूध और पानी जुदा जुदा हैं, उसी तरह सत्पुरुषके आश्रयसे—प्रतीतिसे—देह और आत्मा जुदा जुदा हैं, ऐसा भान होता है। अन्तरमें अपने आत्मानुभवरूपसे, जैसे दूध और पानी जुदे जुदे होते हैं, उसी तरह देह और आत्मा जब भिन्न माळूम हों, उस समय परमात्मभाव प्राप्त होता है। जिसे आत्माका विचाररूपी ध्यान है—सतत निरंतर ध्यान है, जिसे आत्मा स्वप्नमें भी जुदा ही भासित होती है, जिसे किसी भी समय आत्माकी भ्रान्ति होती ही नहीं, उसे ही परमात्मभाव होता है।

अन्तरात्मा निरन्तर कषाय आदि दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करती है। चौदहवें गुणस्थानतक यह विचाररूपी क्रिया रहती है। जिसे वैराग्य-उपशम रहता हो, उसे ही विचारवान कहते हैं। आत्मायें मुक्त

होनेके पश्चात् ससारमें आती नहीं। आत्मा स्वानुभव-गोचर है, वह चक्षुसे दिखाई देती नहीं; इन्द्रियसे रहित ज्ञान ही उसे जानता है। जो आत्माके उपयोगका मनन करे वह मन है संलग्नताके कारण मन भिन्न कहा जाता है। संकल्प-विकल्प त्याग देनेको 'उपयोग' कहते है। ज्ञानका आवरण करनेवाला निकाचित कर्म जिसने न बॉधा हो उसे सत्पुरुपका बोध लगता है। आयुका बंध हो तो वह रुकता नहीं।

जीवने अज्ञान पकड़ रक्खा है, इस कारण उपदेश लगता नहीं। क्योंकि आवरणके कारण लगनेका कोई रास्ता ही नहीं। जबतक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते रहो तबतक आत्मा ऊँची उठती नहीं और तबतक कल्याण भी होता नहीं। बहुतसे जीव सत्पुरुपके बोधको सुनते है, परन्तु उन्हें विचार करनेका योग बनता नहीं।

इन्द्रियोंके निग्रहका न होना, कुल-धर्मका आग्रह, मान-श्लाघाकी कामना, अमध्यस्थभाव यह कदाग्रह है। उस कदाग्रहको जीव जबतक नहीं छोडता तबतक कल्याण होता नहीं। नव पूर्वोको पढ़ा तो भी जीव भटका। चौदह राजू लोक जाना, परन्तु देहमे रहनेवाली आत्माको न पहिचाना, इस कारण भटका! ज्ञानी-पुरुप समस्त शकाओंका निवारण कर सकता है। परन्तु पार होनेका साधन तो सत्पुरुपकी दृष्टिसे चलना ही है, और तो ही दुःख नाश होता है। आज भी जीव यदि पुरुपार्थ करे तो आत्मज्ञान हो जाय। जिसे आत्म-ज्ञान नहीं, उससे कल्याण होता नहीं।

व्यवहार जिसका परमार्थ है, वैसे आत्म-ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेपर आत्मा लक्षमें आती है कल्याण होता है।

आत्मज्ञान सहज नहीं। पंचीकरण, विचारसागरको पढ़कर कथनमात्र माननेसे ज्ञान होता नहीं। जिसे अनुभव हुआ है, ऐसे अनुभवीके आश्रयसे, उसे समझकर उसकी आज्ञानुसार च करे तो ज्ञान हो। समझे बिना रास्ता बहुत विकट है। हीरा निकालनेके लिये खानके खोदने तो मेहनत है, पर हीरेके लेनेमें मेहनत नहीं। उसी तरह आत्मासंबंधी समझका आना दुर्लभ है, नह तो आत्मा कुछ दूर नहीं; भान नहीं इससे वह दूर माल्म होती है। जीवको कल्याण करने करनेका भान नहीं है, और अपनेपनकी रक्षा करनी है।

चौथे गुणस्थानमें ग्रंथि-भेद होता है। जो ग्यारहवेंमेंसे पड़ता है उसे उपशम सम्यक्त्व कह जाता है। लोभ चारित्रके गिरानेवाला है। चौथे गुणस्थानमें उपशम और क्षायिक दोनों होते हैं उपशम अर्थात् सत्तामे आवरणका रहना। कल्याणके सच्चे सच्चे कारण जीवके विचारमें नहीं। शास्त्र वृत्तिको न्यून करें नहीं, वृत्तिको संकुचित करें नहीं, परन्तु उल्टी उसकी वृद्धि ही करें, वे शास्त्रोंमें न्याय कहाँसे हो सकता है?

व्रत देनेवाले और व्रत लेनेवाले दोनोंको ही विचार तथा उपयोग रखना चाहिये। उप रक्खे नहीं और भार रक्खे तो निकाचित कर्म बँधे। 'कम करना', परिग्रहकी मर्यादा करनी, य जिसके मनमें हो वह शिथिल कर्म बॉधता है। पाप करनेपर कोई मुक्ति होती नहीं। केवल एक व्रतक लेकर जो अज्ञानको दूर करना चाहता है, ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरे कितना ही च रि मैं खा गया हूँ; उसमें यह तो क्या बड़ी बात है?

जो साधन कोई बतावे, वे साधन पार होनेके साधन हों तो ही वे सत्साधन हैं, बाकी तो सब निष्फल साधन हैं । व्यवहारमें अनन्त बाधायें आती हैं तो फिर पार किस तरह पड़े ? कोई आदमी जल्दी जल्दी बोले तो वह कषायी कहा जाता है, और कोई धीरजसे बोले तो उसमें शान्ति मालूम होती है, परन्तु अंतर्परिणाम हो तो ही शान्ति कही जा सकती है।

जिसे सोनेके लिये एक बिस्तरा-भर चाहिये, वह दस घर फालतू रक्खे तो उसकी वृत्ति कब संकुचित होगी ? जो वृत्ति रोके उसे पाप नहीं ! बहुतसे जीव ऐसे हैं जो इस तरहके कारणोंको इकट्ठा करते हैं कि जिससे वृत्ति न रुके—इससे पाप नहीं रुकता ।

(९) भाद्रपद सुदी १५, १९५२

चौदह राजू लोककी जो कामना है वह पाप है, इसलिये परिणाम देखना चाहिये। कदाचित् ऐसा कहो कि चौदह राजू लोककी तो खबर भी नहीं, तो भी जितनेका विचार किया उतना तो निश्चित पाप हुआ । मुनिको एक तिनकेके ग्रहण करनेकी भी छूट नहीं । गृहस्थ इतना ग्रहण करे तो उसे उतना ही पाप है ।

जड़ और आत्मा तन्मय नहीं होते । सूतकी आँटी सूतसे कुछ जुदी नहीं होती, परन्तु आँटी खोलनेमें कठिनता है, यद्यपि सूत घटता बढ़ता नहीं है । उसी तरह आत्मामें आँटी पड़ गई है।

सत्पुरुष और सत्शास्त्र यह व्यवहार कुछ कल्पित नहीं । सद्गुरु-सत्शास्त्ररूपी व्यवहारसे जब निज-स्वरूप शुद्ध हो जाय, तब केवलज्ञान होता है । निज-स्वरूपके जाननेका नाम समकित है । सत्पुरुषके वचनका सुनना दुर्लभ है, श्रद्धान करना दुर्लभ है, विचार करना दुर्लभ है, तो फिर अनुभव करना दुर्लभ हो, इसमें नवीनता ही क्या है ?

उपदेश-ज्ञान अनादि कालसे चला आता है । अकेली पुस्तकसे ज्ञान नहीं होता । यदि पुस्तकसे ज्ञान होता हो तो पुस्तकको ही मोक्ष हो जाय ! सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेमें भूल हो जाय तो पुस्तक केवल अवलम्बनरूप है । चैतन्यभाव लक्ष्यमें आ जाय तो चेतनता प्राप्त हो जाय; चेतनता अनुभवगोचर है । सद्गुरुका वचन श्रवण करे, मनन करे और उसे आत्मामें परिणमावे तो कल्याण हो जाय।

ज्ञान और अनुभव हो तो मोक्ष हो जाय ! व्यवहारका निषेध करना नहीं चाहिये । अकेले व्यवहारको ही लगे रहना नहीं चाहिये।

आत्म-ज्ञानकी बात, जिससे वह सामान्य हो जाय—इस तरह करनी योग्य नहीं । आत्म-ज्ञानकी बात एकांतमें कहनी चाहिये । आत्माका अस्तित्व विचारमें आवे तो अनुभवमें आता है, नहीं तो उसमें शंका होती है । जैसे किसी आदमीको अधिक पटल होनेसे दिखाई नहीं देता, उसी तरह आवरणकी संलग्नताके कारण आत्माको दिखाई नहीं देता । नींदमें भी आत्माको सामान्यरूपसे जागृति रहती है । आत्मा सम्पूर्णरूपसे सोती नहीं, उसे आवरण आ जाता है । आत्मा हो तो ज्ञान होना संभव है; जड़ हो तो फिर ज्ञान किसे हो ?

अपनेको अपना भान होना—अपनेको अपना ज्ञान होना—वह जीवन्मुक्त होना है ।

चैतन्य एक हो तो भ्रान्ति किसे हुई समझनी चाहिये ? मोक्ष किसे हुई समझनी चाहिये ? समस्त चैतन्यकी जाति एक है, परन्तु प्रत्येक चैतन्यका स्वतंत्ररूपसे जुदा चैतन्य है । चैतन्यका स्वभाव एक है । मोक्ष स्वानुभव-गोचर है । निरावरणमें भेद नहीं । परमाणु एकत्रित न हों, अर्थात् आत्मा और परमाणुका संबंध न होना मुक्ति है; परस्वरूपमें मिलनेका नाम मुक्ति नहीं है ।

कल्याण करने न करनेका तो भान नहीं, परन्तु जीवको अपनापन रखना है । बंध कबतक होता है ? जीव चैतन्य न हो तबतक । एकेन्द्रिय आदि योनिमें भी जीवका ज्ञान-स्वभाव सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अंशसे खुला ही रहता है । अनादि कालसे जीव बँधा हुआ है । निराव-रण होनेके पश्चात् वह बँधता नहीं । 'मैं जानता हूँ' ऐसा जो अभिमान है वही चैतन्यकी अशुद्धता है । इस जगत्में बंध और मोक्ष न होता तो फिर श्रुतिका उपदेश किसके लिये होता ? आत्मा स्वभावसे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है । जिस समय निर्विकल्प समाधि होती है उसी समय निष्क्रियता कही है । निर्विवादरूपसे वेदान्तके विचार करनेमे बाधा नहीं । आत्मा अर्हंत-पदका विचार करे तो अर्हंत हो जाय । सिद्धपदका विचार करे तो सिद्ध हो जाय । आचार्यपदका विचार करे तो आचार्य हो जाय । उपाध्यायका विचार करे तो उपाध्याय हो जाय । स्त्रीरूपका विचार करे तो आत्मा स्त्री हो जाय, अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तद्रूप भावात्मा हो जाती है । आत्मा एक है अथवा अनेक हैं, इसकी चिन्ता नहीं करना । हमें तो इस विचारकी ज़रूरत है कि 'मैं एक हूँ' । जगत्भरको इकट्ठा करनेकी क्या जरूर है ? एक-अनेकका विचार बहुत दूर दशाके पहुँचनेके पश्चात् करना चाहिये । जगत् और आत्माको स्वप्नमे भी एक नहीं मानना । आत्मा अचल है, निरावरण है । वेदान्त सुनकर भी आत्माको पहिचानना चाहिये । आत्मा सर्वव्यापक है, अथवा आत्मा देह-व्यापक है, यह अनुभव प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है ।

सब धर्मोका तात्पर्य यही है कि आत्माको पहिचानना चाहिये । दूसरे जो सब साधन हैं वे जिस जगह चाहिये (योग्य हैं), उन्हें ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक उपयोग करनेसे अधिकारी जीवको फल होता है । दया आदि आत्माके निर्मल होनेके साधन है ।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत, अशुभ योग, ये अनुक्रमसे दूर हो जॉय तो सत्पुरुषका वचन आत्मामें प्रवेश करे, उससे समस्त दोष अनुक्रमसे नाश हो जाँय । आत्मज्ञान विचारसे होता है । सत्पुरुष तो पुकार पुकार कर कह गये हैं, परन्तु जीव लोक-मार्गमें पड़ा हुआ है, और उसे लोकोत्तर मार्ग मान रहा है । इससे किसी भी तरह दोष दूर नहीं होता । लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषोंके वचन आत्मामें प्रवेश करें तो सब दोष दूर हो जाँय । जीवको अहभाव लाना नहीं चाहिये । मान-बड़ाई और महत्ताके त्यागे विना सम्यक्मार्ग आत्मामें प्रवेश नहीं करता ।

ब्रह्मचर्यके विषयमेः—परमार्थके कारण नदी उतरनेके लिये मुनिको ठंडे पानीकी आज्ञा दी है, परन्तु अब्रह्मचर्यकी आज्ञा नहीं दी, और उसके लिये कहा है कि अल्प आहार करना, उपवास करना, एकांतर करना, और अन्तमें ज़हर खाकर मर जाना, परन्तु ब्रह्मचर्य भंग नहीं करना ।

जिसे देहकी मूर्च्छा हो उसे कल्याण किस तरह माल्र्म हो सकता है ? सर्प काट खाय और भय न हो तो समझना चाहिये कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है । आत्मा अजर अमर है । 'मैं' मरने-

ा नहीं, तो फिर मरणका भय क्या है ? जिसकी देहकी मूर्च्छा चली गई है उसे आत्म-ज्ञान हुआ ा जाता है।

प्रश्न:—जीवको किस तरह वर्ताव करना चाहिये ?

उत्तर:—जिस तरह सत्संगके योगसे आत्माको शुद्धता प्राप्त हो उस तरह। परन्तु सदा सत्सं-ा योग नहीं मिलता। जीवको योग्य होनेके लिये हिंसा नहीं करना, सत्य बोलना, विना दिया आ नहीं लेना, ब्रह्मचर्य पालना, परिग्रहकी मर्यादा करनी, रात्रिभोजन नहीं करना—इत्यादि सदाचरणको, नियोंने शुद्ध अंतःकरणसे करनेका विधान किया है। वह भी यदि आत्माका लक्ष रखकर किया जाता तो उपकारी है, नहीं तो उससे केवल पुण्य-योग ही प्राप्त होता है। उससे मनुष्यभव मिलता है, वगति मिलती है, राज मिलता है, एक भवका सुख मिलता है, और पीछेसे चारों गतियोंमें भटकना ड़ता है। इसलिये ज्ञानियोंने तप आदि जो क्रियायें आत्माके उपकारके लिये, अहंकाररहित भावसे रनेके लिये कहीं हैं, उन्हे परमज्ञानी स्वय भी जगत्के उपकारके लिये निश्चयरूपसे सेवन करता है।

महावीरस्वामीने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उपवास नहीं किया, ऐसा किसी भी ज्ञानीने नहीं किया। फिर भी लोगोंके मनमे यह न हो कि ज्ञान होनेके पश्चात् खाना-पीना सब एक-सा है—इतनेके लेये ही अन्तिम समय तपकी आवश्यकता बतानेके लिये उपवास किया, दानके सिद्ध करनेके लिये दीक्षा लेनेके पहिले स्वय एकवर्षीय दान दिया। इससे जगत्को दान सिद्ध कर दिखाया; माता-पिताकी सेवा सिद्धकर दिखाई। दीक्षा जो छोटी वयमें न ली वह भी उपकारके लिये ही, नहीं तो अपनेको करना न करना दोनों ही समान हैं। जो साधन कहे हैं, वे आत्मलक्ष करनेके लिये है। परके उपकारके लिये ही ज्ञानी सदाचरण सेवन करता है।

हालमें जैनदर्शनमें बहुत समयसे अव्यवहृत कुँएकी तरह आवरण आ गया है; कोई ज्ञानी-पुरुप हीं है। कितने ही समयसे कोई ज्ञानी नहीं हुआ, अन्यथा उसमें इतना अधिक कदाग्रह नहीं हो जाता। इस पंचमकालमें सत्पुरुपका योग मिलना दुर्लभ है, और उसमें हालमें तो विशेप दुर्लभ खनेमें आता है। प्राय. पूर्वके संस्कारी जीव देखनेमें आते नहीं। बहुतसे जीवोंमें कोई कोई ही सच्चा मुमुक्षु—जिज्ञासु—देखनेमें आता है। बाकी तो तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं, जो बाह्य दृष्टिसे युक्त है:—

१. 'क्रिया करना नहीं चाहिये; क्रियासे बस देवगति मिलती है, उससे अन्य कुछ प्राप्त नहीं होता। जिससे चार गतियोंका भ्रमण दूर हो, वही सत्य है'—ऐसा कहकर सदाचरणको केवल पुण्यका हेतु मान उसे नहीं करते, और पापके कारणोंका सेवन करते हुए अटकते नहीं। ऐसे जीवोंको कुछ करना ही नहीं हैं, और बस बड़ी बड़ी बातें करना है। इन जीवोंको 'अज्ञानवादी' रूपमें रक्खा जा सकता है।

२. 'एकान्त क्रिया करना चाहिये, उसीसे कल्याण होगा,'—इस प्रकार माननेवाले एकान्त व्यवहारमें कल्याण मानकर कदाग्रह नहीं छोड़ते। ऐसे जीवोंको 'क्रियावादी' अथवा 'क्रियाजड़' समझना चाहिये। क्रिया-जड़को आत्माका लक्ष नहीं होता।

३, 'हमको आत्मज्ञान है । आत्माको भ्रान्ति होती ही नहीं, आत्मा कर्त्ता भी नहीं, और भोक्ता भी नहीं, इसलिये वह कुछ भी नहीं'—इस प्रकार बोलनेवाले 'शुष्क अध्यात्मी' शून्य ज्ञानी होकर अनाचार सेवन करते हुए रुकते नहीं ।

इस तरह हालमें तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं । जीवको जो कुछ करना है, वह आत्माके उपकारके लिये ही करना है—यह बात वे भूल गये हैं । हालमें जैनोंमे चौरासीसे सौ गच्छ हो गये है । उन सबमें कदाग्रह हो गया है, फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्म हमारा है' ।

'पडिक्कमामि, निंदामि' आदि पाठका लोकमें, वर्तमानमें ऐसा अर्थ हो गया मालूम होता है कि 'मैं आत्माको विस्मरण करता हूँ' । अर्थात् जिसका अर्थ—उपकार—करना है, उसीको—आत्माको ही—विस्मरण कर दिया है । जैसे बारात चढ़ गई हो, और उसमें तरह तरहके वैभव वगैरह सब कुछ हों, परन्तु यदि एक वर न हो तो बारात शोभित नहीं होती, वर हो तो ही शोभित होती है; उसी तरह क्रिया वैराग्य आदि, यदि आत्माका ज्ञान हो तो ही शोभाको प्राप्त होते हैं, नहीं तो नहीं होते । जैनोंमे हालमें आत्माकी विस्मृति हो गई है ।

सूत्र, चौदह पूर्वोंका ज्ञान, मुनिपना, श्रावकपना, हजारों तरहके सदाचरण, तपश्चर्या आदि जो जो साधन, जो जो मेहनत, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहिचाननेके लिये हैं । वह प्रयत्न यदि आत्माको पहिचाननेके लिये—खोज निकालनेके लिये—आत्माके लिये हो तो सफल है, नहीं तो निष्फल है । यद्यपि उससे बाह्य फल होता है, परन्तु चार गतियोंका नाश होता नहीं । जीवको सत्पुरुषका योग मिले, और लक्ष हो तो वह जीव सहजमें ही योग्य हो जाय, और बादमें यदि सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो ।

शम=क्रोध आदिका कृश पड़ जाना ।
सवेग=मोक्षमार्गके सिवाय अन्य किसी इच्छाका न होना ।
निर्वेद=ससारसे थक जाना—संसारसे अटक जाना ।
आस्था=सच्चे गुरुकी—सद्गुरुकी—आस्था होना ।
अनुकंपा=सब प्राणियोंपर समभाव रखना—निर्वैर बुद्धि रखना ।

ये गुण समकिती जीवमें स्वाभाविक होते हैं । प्रथम सच्चे पुरुषकी पहिचान हो तो बादमें ये चार गुण आते हैं । वेदान्तमे विचार करनेके लिये षट् सपत्तियाँ बताई हैं । विवेक वैराग्य आदि सद्गुण प्राप्त होनेके बाद जीव योग्य–मुमुक्षु–कहा जाता है ।

समकित जो है वह देशचारित्र है—एक देशसे केवलज्ञान है । शास्त्रमें इस कालमें मोक्षका सर्वथा निषेध नहीं । जैसे रेलगाड़ीके रास्तेसे इष्ट मार्गपर जल्दी पहुँच जाते हैं और पैदलके रास्ते देरमे पहुँचते हैं, उसी तरह इस कालमें मोक्षका रास्ता पैदलके रास्तेके समान हो, और इससे वहाँ न पहुँच सकें, यह कोई बात नहीं है । जल्दी चलें तो जल्दी पहुँच जाँय—रास्ता कुछ बंद नहीं है । इसी तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नहीं । अज्ञानी अकल्याणके मार्गमें कल्याण मान स्वच्छंद कल्पना कर, जीवोंका पार होना बंद करा देता है । अज्ञानीके रागी भोलेभाले जीव अज्ञानीके कहे अनुसार चलते

हैं; और उस प्रकारके कर्मसे बँधे हुए दोनों कुगतिको प्राप्त होते हैं। ऐसी मुश्किल जैन लोगोंमे विशेष हो गई है।

नय आत्माके समझनेके लिये कहे हैं, परन्तु जीव तो नयवादमें ही गुँथ जाते हैं। आत्माको समझते हुए नयमें गुँथ जानेसे वह प्रयोग उल्टा ही हो गया। समकितदृष्टि जीवको 'केवलज्ञान' कहा जाता है। उसे वर्तमानमें भान हुआ है, इसलिये 'देश-केवलज्ञान' कहा जाता है, बाकी तो आत्माका भान होना ही केवलज्ञान है। वह इस तरह कहा जाता है:—समकितदृष्टिको जब आत्माका भान हो तब उसे केवलज्ञानका भान प्रगट हुआ, और जब उसका भान प्रगट हो गया, तो केवलज्ञान अवश्य होना चाहिये, इसलिये इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है। सम्यक्त्व हुआ अर्थात् जमीन जोतकर बीज बो दिया; वृक्ष हुआ, फल आये, फल थोड़े ही खाये, और खाते खाते आयु पूर्ण हो गई; तो फिर अब दूसरे भवमें फल खावेंगे। इसलिये 'केवलज्ञान' इस कालमें नहीं—नहीं, ऐसा विपरीत मान नहीं लेना, और नहीं कहना। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे अनतभव दूर होकर एक भव बाकी रह जाता है, इसलिये सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। आत्मामें केवलज्ञान है, परन्तु आवरण दूर होनेपर केवलज्ञान होता है। इस कालमें सम्पूर्ण आवरण दूर नहीं होता—एक भव बाकी रह जाता है, अर्थात् जितना केवलज्ञानावरणीय दूर हो, उतना ही केवलज्ञान होता है। समकित आनेपर, भीतरमें—अंतरमें—दशा बदल जाती है; केवलज्ञानका बीज प्रगट होता है। सद्गुरु बिना मार्ग नहीं, ऐसा महान् पुरुषोंने कहा है। यह उपदेश बिना कारण नहीं किया।

समकिती अर्थात् मिथ्यात्वसे मुक्त, केवलज्ञानी अर्थात् चारित्रावरणसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त; और सिद्ध अर्थात् देह आदिसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त।

प्रश्नः—कर्म किस तरह कम होते हैं?

उत्तरः—क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे, लोभ न करे—उससे कर्म कम होते हैं।

बाह्य क्रिया करूँगा तो मनुष्य जन्म मिलेगा, और किसी दिन सत्पुरुषका सयोग होगा।

प्रश्नः—व्रत-नियम करने चाहिये या नहीं?

उत्तरः—व्रत-नियम करने चाहिये। परन्तु उसकी साथ झगड़ा, कलह, लड़के बच्चे, और घरमें मारामारी नहीं करना चाहिये। ऊँची दशा पानेके लिये ही व्रत-नियम करने चाहिये।

सच्चे-झूठेकी परीक्षा करनेके ऊपर एक सच्चे भक्तका दृष्टान्तः—

एक राजा बहुत भक्तिवाला था। वह भक्तोंकी बहुत सेवा किया करता था। बहुतसे भक्तोंको अन्न-वस्त्र आदिसे पोषण करनेके कारण बहुतसे भक्त इकट्ठे हो गये। प्रधानने सोचा कि राजा बिचारा भोला है, और भक्त लोग ठग हैं, इसलिये इस बातकी राजाको परीक्षा करानी चाहिय। परन्तु इस समय तो राजाको इनपर बहुत प्रेम है, इसलिये वह मानेगा नहीं, इसलिये किसी दूसरे अवसरपर बात करूँगा। ऐसा विचार कुछ समय ठहरकर किसी अवसरके मिलनेपर उसने राजासे कहा—'आप बहुत समयसे सब भक्तोंकी एक-सी सेवा-चाकरी करते हैं, परन्तु उनमें कोई बड़ा होगा और कोई छोटा होगा; इसलिये सबकी परीक्षा करके ही भक्ति करना चाहिये।' राजाने इस बातको स्वीकार किया और पूँछा कि तो फिर क्या करना चाहिये। राजाकी आज्ञा लेकर प्रधानने जो दो हजार भक्त थे उन सबको

इकट्ठा करके कहलवाया कि आप सब लोग दरवाजेके बाहर आवें, क्योंकि राजाको तेलकी ज़रूरत है इसलिये आज भक्त-तेल निकालना है। तुम सब लोग बहुत दिनोंसे राजाके माल-मसाले खा रहे हो, तो आज राजाका इतना काम तुम्हें अवश्य करना चाहिये। जब भक्तोंने, घाणीमें डालकर तेल निकालनेकी बात सुनी तो सबके सब भाग गये और अदृश्य हो गये। उनमें एक सच्चा भक्त था, उसने विचार किया कि राजाका नमक खाया है तो उसकी नमकहरामी कैसे की जा सकती है ? राजाने परमार्थ समझकर अन्न दिया है, इसलिये राजा चाहे कुछ भी करे, उसे करने देना चाहिये। यह विचार कर घाणीके पास जाकर उसने कहा कि 'आपको भक्त-तेल निकालना हो तो निकालिये'। प्रधानने राजासे कहा—'देखिये, आप सब भक्तोंकी सेवा करते थे, परन्तु आपको सच्चे-झूठेकी परीक्षा न थी'। देखो, इस तरह, सच्चे जीव तो विरले ही होते हैं, और वैसे विरले सच्चे सद्गुरुकी भक्ति श्रेयस्कर है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन वचन और कायासे करनी चाहिये।

एक बात जबतक समझमें न आवे तबतक दूसरी बात सुनना किस कामकी ? सुने हुएको भूलना नहीं। जैसे एक बार जो भोजन किया है, उसके पचे बिना दूसरा भोजन नहीं करना चाहिये। तप वगैरह करना कोई महाभारत बात नहीं, इसलिये तप करनेवालेको अहंकार करना नहीं चाहिये। तप यह छोटेमें छोटा हिस्सा है। भूखे मरना और उपवास करनेका नाम तप नहीं। भीतरसे शुद्ध अंतःकरण हो तो तप कहा जाता है; और तो मोक्षगति होती है। बाह्य तप शरीरसे होता है। तप छह प्रकारका है:—१ अंतर्वृत्ति होना, २ एक आसनसे कायाको बैठाना, ३ कम आहार करना, ४ नीरस आहार करना और वृत्तियोंका संकुचित करना, ५ संलीनता और ६ आहारका त्याग।

तिथिके लिये उपवास नहीं करना, परन्तु आत्माके लिये उपवास करना चाहिये। बारह प्रकारका तप कहा है। उसमें आहार न करना, इस तपको जिह्वा इन्द्रियको वश करनेका उपाय समझकर कहा है। जिह्वा इन्द्रिय वश की तो यह समस्त इन्द्रियोंके वशमें होनेका निमित्त है। उपवास करो तो उसकी बात बाहर न करो, दूसरेकी निन्दा न करो, क्रोध न करो। यदि इस प्रकारके दोष कम हों तो महान् लाभ हो। तप आदि आत्माके लिये ही करने चाहिये—लोकके दिखानेके लिये नहीं। कषायके घटनेको तप कहा है। लौकिक दृष्टिको भूल जाना चाहिये।

सब कोई सामायिक करते हैं, और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सत्य है। समकित होगा या नहीं, उसे भी यदि ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है। परन्तु ज्ञानी क्या स्वीकार करे ? अज्ञानीके स्वीकार करने जैसा ही तुम्हारा सामायिक, व्रत और समकित है ! अर्थात् वास्तविक सामायिक, व्रत और समकित तुम्हारेमें नहीं। मन वचन और काया व्यवहार-समतामें स्थिर रहें, यह समकित नहीं है। जैसे नींदमें स्थिर योग माळूम होता है, फिर भी वस्तुतः वह स्थिर नहीं है, और इस कारण वह समता भी नहीं है। मन वचन और काया चौदह गुणस्थान-तक होते हैं; मन तो कार्य किये बिना बैठता ही नहीं। केवलीके मनयोग चपल होता है; परन्तु आत्मा चपल नहीं होती। आत्मा चौथे गुणस्थानकमें चपल होती है, परन्तु सर्वथा नहीं। 'ज्ञान' अर्थात् आत्माको याथातथ्य जानना। 'दर्शन' अर्थात् आत्माकी याथातथ्य प्रतीति।

'चारित्र' अर्थात् आत्माका स्थिर होना। आत्मा और सद्गुरुको एक ही समझना चाहिये। यह बात विचारसे ग्रहण होती है। वह विचार यह कि देह अथवा देहके समान दूसरा भाव सद्गुरु नहीं, परन्तु सद्गुरुकी आत्मा ही सद्गुरु है। जिसने आत्मस्वरूप लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे प्रगट अनुभव किया है, और वही परिणाम जिसकी आत्माका हो गया है, वह आत्मा और सद्गुरु एक ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। पूर्वमें जो अज्ञान इकट्ठा किया है, वह दूर हो तो ज्ञानीकी अपूर्व वाणी समझमें आये।

मिथ्यावासना=धर्मके मिथ्या स्वरूपका सच्चा समझना।

तप आदि भी ज्ञानकी कसौटी है। साता-शील आचरण रक्खा हो और असाता आ जाय तो ज्ञान मद हो जाता है।

विचार विना इन्द्रियाँ वश नहीं होतीं। अविचारसे इन्द्रियाँ दौडतीं हैं। निवृत्तिके लिये उपवास करना बताया है। हालमें बहुतसे अज्ञानी जीव उपवास करके दुकानपर बैठते हैं, और उसे पौषध बताते हैं। ऐसे कल्पित पौषध जीवने अनादिकालसे किये हैं। उन सबको ज्ञानियोंने निष्फल ठहराया है। जब स्त्री, घर, बाल-बच्चे भूल जाय, उसी समय सामायिक किया कहा जाता है। व्यवहार-सामायिक बहुत निषेध करने योग्य नहीं, यद्यपि जीवने व्यवहाररूप सामायिकको एकदम जड़ बना डाला है। उसे करनेवाले जीवोंको खबर भी नहीं होती कि इससे कल्याण क्या होगा ? पहिले सम्यक्त्व चाहिये। जिस वचनके सुननेसे आत्मा स्थिर हो उस सत्पुरुषका वचन श्रवण हो तो पीछेसे सम्यक्त्व होता है। सामान्य विचारको लेकर इन्द्रियाँ वश करनेके लिये छह कायका आरंभ कायासे न करते हुए जब वृत्ति निर्मल होती हैं, तब सामायिक हो सकता है।

भवस्थिति, पंचमकालमें मोक्षका अभाव आदि शंकाओंसे जीवने बाह्य वृत्ति कर रक्खी है। परन्तु यदि जीव ऐसा पुरुषार्थ करे, और पंचमकाल मोक्ष होते समय हाथ पकड़ने आवे, तो उसका उपाय हम कर लेंगे। वह उपाय कोई हाथी नहीं, अथवा जाज्वल्यमान अग्नि नहीं। मुफ्तमें ही जीवको भड़का रक्खा है। जीवको पुरुषार्थ करना नहीं, और उसको लेकर बहाना ढूँढ़ना है। इसे अपना ही दोष समझना चाहिये। समताकी वैराग्यकी बातें सुननी और विचारनी चाहिये। बाह्य बातोंको जैसे बने वैसे छोड़ देना चाहिये। जीव पार होनेका अभिलाषी हो, और सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करे तो समस्त वासनायें दूर हो जाँय।

सद्गुरुकी आज्ञामें सब साधन समा गये है। जो जीव पार होनेके अभिलाषी होते हैं, उनमें सब वासनाओंका नाश हो जाता है। जैसे कोई सौ पचास कोस दूर हो, तो वह दो चार दिनमें घर आकर मिल सकता है, परतु जो लाखों कोस दूर हो वह एकदम घर आकर कैसे मिल सकता है ? उसी तरह यह जीव कल्याणमार्गसे थोड़ा दूर हो तो वह कभी कल्याण प्राप्त कर सकता है, परन्तु यदि वह एकदम ही उल्टे रास्ते हो तो कहाँसे पार हो सकता है ?

देह आदिका अभाव होना—मूर्च्छाका नाश होना—ही मुक्ति है। जिसका एक भव बाकी रहा हो उसे देहकी इतनी अधिक चिंता उचित नहीं। अज्ञान दूर होनेके पश्चात् एक भवकी कुछ कीमत नहीं। लाखों भव चले गये तो फिर एक भव तो किस हिसाबमें है ?

किसीको हो तो मिथ्यात्व और माने वह छट्ठा-सातवाँ गुणस्थानक, तो उसका क्या करना ? चौथे गुणस्थानकी स्थिति कैसी होती है ? गणधरके समान मोक्षमार्गकी परम प्रतीति आवे (ऐसी)।

पार होनेका अभिलाषी हो वह सिर काटकर देते हुए पीछे नहीं हटता। जो शिथिल हो वह जो थोड़े कुलक्षण हो उन्हें भी नहीं छोड सकता। वीतराग भी जिस वचनको कहते हुए डरे हैं, उसे अज्ञानी स्वच्छंदतासे कहता है, तो वह फिर कैसे छूटेगा ?

महावीरस्वामीके दीक्षाके वरघोड़ेकी बातका स्वरूप यदि विचारें तो वैराग्य हो। यह बात अद्भुत है। वे भगवान् अप्रमादी थे। उन्हें चारित्र रहता था, परन्तु जिस समय उन्होंने बाह्य चारित्र ग्रहण किया, उस समय वे मोक्ष गये।

अविरति शिष्य हो तो उसका आदर सत्कार कैसे किया जाय ? कोई राग-द्वेष नाश करनेके लिये निकले, और उसे तो काममें ही ले लिया, तो राग-द्वेष कहाँसे दूर हो सकते हैं ? जिनभगवान्के आगमका जो समागम हुआ हो वह अपने क्षयोपशमके अनुसार होता है, परन्तु वह सद्गुरुके अनुसार नहीं होता। सद्गुरुका योग मिलनेपर जो उसकी आज्ञानुसार चला, उसका राग-द्वेष सचमुच दूर हो गया।

गभीर रोगके दूर करनेके लिये असली दवा तुरत ही फल देती है। ज्वर तो एक ही दो दिनमें दूर हो जाता है।

मार्ग और उन्मार्गकी परीक्षा होनी चाहिये। 'पार होनेका अभिलाषी' इस शब्दका प्रयोग करो तो अभव्यका प्रश्न ही नहीं उठता। अभिलाषीमें भी भेद हैं।

प्रश्नः—सत्पुरुषकी किस तरह परीक्षा होती है ?

उत्तरः—सत्पुरुष अपने लक्षणोंसे पहिचाने जाते हैं। सत्पुरुषोंके लक्षणः—उनकी वाणीमें पूर्वापर अविरोध होता है, वे क्रोधका जो उपाय बतावें, उससे क्रोध दूर हो जाता है; मानका जो उपाय बतावें, उससे मान दूर हो जाता है। ज्ञानीकी वाणी परमार्थरूप ही होती है। वह अपूर्व है। ज्ञानीकी वाणी दूसरे अज्ञानीकी वाणीके ऊपर ऊपर ही होती है। जबतक ज्ञानीकी वाणी सुनी नहीं, तबतक सूत्र भी नीरस जैसे माल्म होते हैं। सद्गुरु और असद्गुरुकी परीक्षा, सोने और पीतलकी कंठीकी परीक्षाकी तरह होनी चाहिये। यदि पार होनेका अभिलाषी हो, और सद्गुरु मिल जाय तो कर्म दूर हो जाते हैं। सद्गुरु कर्म दूर करनेका कारण है। कर्म बाँधनेके कारण मिलें तो कर्म बँधते हैं, और कर्म दूर होनेके कारण मिलें तो कर्म दूर होते हैं। जो पार होनेका अभिलाषी हो वह भवस्थिति आदिके आलम्बनको मिथ्या कहता है। पार होनेका अभिलाषी किसे कहा जाय ? जिस पदार्थको ज्ञानी ज़हर कहें, उसे ज़हर समझकर छोड़ दे, और ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करे, उसे पार होनेका अभिलाषी कहा जाता है।

उपदेश सुननेके लिये, सुननेके अभिलाषीने कर्मरूप गुदडिया ओढ़ रक्खी है, उससे उपदेशरूप लकड़ी नहीं लगती। तथा जो पार होनेका अभिलाषी है उसने धोतीरूप कर्म ओढ़ रक्खे हैं, इससे उसपर उपदेशरूप लकड़ी आदिमें ही असर करती है। शास्त्रमें अभव्यके तारनेसे पार हो जाय, ऐसा नहीं कहा। चौभंगीमें यह अर्थ नहीं है। ढूँढियाओंके धरमशी नामक मुनिने इसकी टीका की है।

स्वयं तो पार हुआ नहीं और दूसरोंको पार उतारता है, इसका अर्थ अधमार्ग बताने जैसा है। असद्गुरु इस प्रकारका मिथ्या आलम्बन देते हैं* ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक जैनसूत्रमें ऐसा कहा है कि इस कालमें मोक्ष नहीं। इसके ऊपरसे यह न समझना चाहिये कि मिथ्यात्वका दूर होना और उस मिथ्यात्वके दूर होनेरूप भी मोक्ष नहीं है। मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष है, परन्तु सर्वथा अर्थात् आत्यंतिक देहरहित मोक्ष नहीं है। इसके ऊपरसे यह कहा जा सकता है कि इस कालमें सर्व प्रकारका केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस कालमें सम्यक्त्व भी न होता हो। इस कालमें मोक्षके न होनेकी ऐसी बातें कोई करे तो उन्हें सुनना भी नहीं। सत्पुरुषकी बात पुरुषार्थको मंद करनेकी नहीं होती—पुरुषार्थको उत्तेजन देनेकी ही होती है।

जहर और अमृत दोनों समान हैं, ऐसा ज्ञानियोंने कहा हो, तो वह अपेक्षित ही है। ज़हर और अमृतको समान कहनेसे कुछ जहरका ग्रहण करना बताया है, यह बात नहीं। इसी तरह शुभ और अशुभ क्रियाओंके संबंधमें समझना चाहिये। शुभ और अशुभ क्रियाका निषेध किया हो तो वह मोक्षकी अपेक्षासे ही है। किन्तु उससे शुभ और अशुभ दोनों क्रियायें समान हैं, यह समझकर शुभ क्रिया भी नहीं करना चाहिये—ऐसा ज्ञानी-पुरुषका कथन कभी भी नहीं होता। सत्पुरुषका वचन कभी अधर्ममें धर्म स्थापन करनेका नहीं होता।

जो क्रिया करना उसे अदंभपनेसे, निरहंकारपनेसे करना चाहिये—क्रियाके फलकी आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये। शुभ क्रियाका कोई निषेध किया ही नहीं, परन्तु जहाँ जहाँ केवल बाह्य क्रियासे ही मोक्ष स्वीकार किया है, वहीं उसका निषेध किया है।

शरीर ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। मन ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। सहज-समाधि अर्थात् बाह्य कारणरहित समाधि। उससे प्रमाद आदिका नाश होता है। जिसे यह समाधि रहती है, उसे कोई लाख रुपये दे तो भी उसे आनन्द नहीं होता, अथवा उससे कोई उन्हें ज़बर्दस्ती छीन ले तो भी उसे खेद नहीं होता। जिसे साता-असाता दोनों समान हैं, उसे सहज-समाधि कही गई है। समकितदृष्टिको अल्प हर्ष, अल्प शोक कभी हो भी जाय, परन्तु पीछेसे वह शान्त हो जाता है। उसे अंगका हर्ष नहीं रहता; जिस तरह उसे खेद हो वह उस तरह उसे पीछे खींच लेता है। वह विचारता है कि 'इस तरह होना योग्य नहीं', और वह आत्माकी निन्दा करता है। उसे हर्ष-शोक हों तो भी उसका (समकितका) मूल नाश नहीं होता। समकितदृष्टिको अंशसे सहज प्रतीतिके होनेसे सदा ही समाधि रहती है। पतंगकी डोरी जैसे हाथमें रहती है, उसी तरह समकित-दृष्टिकी वृत्तिरूपी डोरी उसके हाथमें ही रहती है।

समकितदृष्टि जीवको सहज-समाधि है। सत्तामें कर्म बाकी रहे हों, उसे फिर भी सहज-समाधि ही है। उसे बाह्य कारणोंसे समाधि नहीं, किन्तु आत्मामेंसे जो मोह दूर हो गया वही समाधि है। मिथ्यादृष्टिके हाथमें डोरी नहीं, इससे वह बाह्य कारणोंमें तदाकार होकर उसरूप हो जाता है।

समकितदृष्टिको बाह्य दुःख आनेपर भी खेद नहीं होता। यद्यपि वह ऐसी इच्छा नहीं करता कि रोग आये। परन्तु रोग आनेपर उसके राग-द्वेष परिणाम नहीं होते।

---

* इसके बादके तीन पैरेग्राफ पत्र नम्बर ६३८ में आ गये हैं। —अनुवादक.

शरीरके धर्म—रोग आदि—केवलीके भी होते हैं, क्योंकि वेदनीय कर्मको तो सबको भोगना ही पड़ता है। समकित आये बिना किसीकी सहज-समाधि होती नहीं। समकित होनेसे ही सहज-समाधि होती है। समकित होनेसे सहजमे ही आसक्तिभाव दूर हो जाता है। उस दशामें आसक्ति-भावके सहज निषेध करनेसे बध रहता नहीं। सत्पुरुषके वचन अनुसार—उसकी आज्ञानुसार—जो चले उसे अंशसे समकित हुआ है।

दूसरे सब प्रकारकी कल्पनायें छोड़कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञासे उनके वचन सुनना, उनकी सच्ची श्रद्धा करना, और उन्हे आत्मामे प्रवेश करना चाहिये, तो समकित होता है। शास्त्रमे कही हुई महावीर-स्वामीकी आज्ञानुसार चलनेवाले जीव वर्तमानमें नहीं हैं, इसलिये प्रत्यक्षज्ञानी चाहिये। काल विकराल है। कुगुरुओंने लोकको मिथ्या मार्ग बताकर भुला दिया है—मनुष्यभव लूट लिया है; तो फिर जीव मार्गमे किस तरह आ सकता है? यद्यपि कुगुरुओंने लूट तो लिया है, परन्तु उसमें उन विचारोंका दोष नहीं, क्योंकि उन्हें उस मार्गकी खबर ही नहीं है। मिथ्यात्वरूपी तिल्लीकी गाँठ मोटी है, इसलिये सब रोग तो कहाँसे दूर हो सकता है? जिसकी ग्रंथि छिन्न हो गई है, उसे सहज-समाधि होती है, क्योंकि जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है, उसकी मूल गाँठ ही नष्ट हो गई, और उससे फिर अन्य गुण अवश्य ही प्रगट हो जाते हैं।

सत्पुरुषका बोध प्राप्त होना यह अमृत प्राप्त होनेके समान है। अज्ञानी गुरुओंने विचारे मनुष्योंको लूट लिया है। किसी जीवको गच्छका आग्रह कराकर, किसीको मतका आग्रह कराकर, जिससे पार न हो सकें, ऐसे आलबन देकर सब कुछ लूटकर व्याकुल कर डाला है—मनुष्य भव ही लूट लिया है।

समवसरणसे भगवान्‌की पहिचान होती है, इस सब माथापच्चीको छोड देना चाहिये। लाख समवसरण हों, परन्तु यदि ज्ञान न हो तो कल्याण नहीं होता; ज्ञान हो तो ही कल्याण होता है। भगवान् मनुष्य जैसे ही मनुष्य थे। वे खाते, पीते, उठते और बैठते थे—इन बातोंमे फेर नहीं है। फेर कुछ दूसरा ही है। समवसरण आदिके प्रसग लौकिक-भावना है। भगवान्‌का स्वरूप ऐसा नहीं है। भगवान्‌का स्वरूप—सर्वथा निर्मल आत्मा—सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होनेपर प्रगट होता है। सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाय यही भगवान्‌का स्वरूप है। वर्तमानमें भगवान् होता तो तुम उसे भी न मानते। भगवान्‌का माहात्म्य ज्ञान है। भगवान्‌के स्वरूपका चिंतवन करनेसे आत्मा भानमें आती है, परन्तु भगवान्‌की देहसे भान प्रगट नहीं होता। जिसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो जाय उसे भगवान् कहा जाता है। जैसे यदि भगवान् मौजूद होते और वे तुम्हें बताते तो तुम उन्हें भी न मानते, इसी तरह वर्तमानमें ज्ञानी मौजूद हो तो वह भी नहीं माना जाता। तथा स्वधाम पहुँचनेके बाद लोग कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी हुआ नहीं। और पीछेसे तो लोग उसकी प्रतिमाको पूजते हैं, परन्तु वर्तमानमें उसपर प्रतीति भी नहीं लाते। जीवको ज्ञानीकी पहिचान वर्तमानमें होती नहीं।

समकितका सच्चा सच्चा विचार करे तो नौवें समयमें केवलज्ञान हो जाय, नहीं तो एक भवमें केवलज्ञान होता है, और अन्तमें पन्द्रहवें भवसे तो केवलज्ञान हो ही जाता है, इसलिये समकित सर्वोत्कृष्ट है। जुदा जुदा विचार-भेदोंको आत्मामें लाभ होनेके लिये ही कहा है, परन्तु भेदमे ही आत्माको घुमानेके लिये नहीं कहा। हरेकमें परमार्थ होना चाहिये।

समकितीको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं ।

अज्ञानी गुरुओने लोगोंको कुमार्गपर चढ़ा दिया है; उल्टा पकड़ा दिया है; इससे लोग गच्छ, कुल, आदि लौकिक भावोंमें तदाकार हो गये हैं। अज्ञानियोंने लोकको एकदम मिथ्या ही मार्ग समझा दिया है। उनके संगसे इस कालमें अंधकार हो गया है। हमारी कही हुई हरेक–प्रत्येक–वातको याद कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करना चाहिये। गच्छ आदिके कदाग्रहको छोड़ देना चाहिये। जीव अनादि कालसे भटक रहा है। यदि समकित हो तो सहज ही समाधि हो जाय, और अन्तमें कल्याण हो। जीव सत्पुरुषके आश्रयसे यदि आज्ञाका सच्चा सच्चा आराधन करे, उसके ऊपर प्रतीति लावे, तो अवश्य ही उपकार हो।

एक ओर तो चौदह राजू लोकका सुख हो, और दूसरी ओर सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो, तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनंतगुना हो जाता है।

वृत्ति चाहे किसी भी तरह हो रोकना चाहिये, ज्ञान-विचारसे रोकना चाहिये, लोक-लाजसे रोकना चाहिये, उपयोगसे रोकना चाहिये, किसी भी तरह हो वृत्तिको रोकना चाहिये। मुमुक्षुओंको, किसी अमुक पदार्थके विना न चले ऐसा नहीं रखना चाहिये।

जीव जो अपनापन मानता है, वही दुःख है, क्योंकि जहाँ अपनापन माना और चिंता हुई कि अब कैसे होगा? अब कैसे करें? चिंतामें जो स्वरूप हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारके द्वारा, ज्ञानके द्वारा देखा जाय तो मालूम होता है कि कोई अपना नहीं। यदि एककी चिंता करो तो समस्त जगत्की ही चिंता करनी चाहिये। इसलिये हरेक प्रसंगमें अपनापन होते हुए रोकना चाहिये, तो ही चिंता–कल्पना–कम होगी। तृष्णाको जैसे बने कम करना चाहिये। विचार कर करके तृष्णाको कम करना चाहिये। इस देहको कुछ पचास-सौ रुपयेका तो खर्च चाहिये, और उसके बदले वह हज़ारों लाखोंकी चिंता कर अग्निसे सारे दिन जला करती है। बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव मान-बड़ाईके कारण तृष्णाको बढ़ाता है, उस मान-बड़ाईको रखकर मुक्ति होती नहीं। जैसे बने वैसे मान-बड़ाई, तृष्णाको कम करना चाहिये। निर्धन कौन है? जो धन माँगे—धनकी इच्छा करे—वह निर्धन है। जो न माँगे वह धनवान है। जिसे लक्ष्मीकी विशेष तृष्णा, उसकी दुविधा, पीड़ा है, उसे जरा भी सुख नहीं। लोग समझते हैं कि श्रीमंत लोग सुखी हैं, परन्तु वस्तुतः उनके तो रोम रोममें पीडा है, इसलिये तृष्णाको घटाना चाहिये।

आहारकी बात अर्थात् खानेके पदार्थोंकी बात तुच्छ है, उसे करना नहीं चाहिये। विहारकी अर्थात् क्रीडाकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता और दीनता ये सब तुच्छताकी बातें करनी नहीं चाहिये। आहार विष्ठा है। विचार करो कि खानेके पीछे विष्ठा हो जाती है। विष्ठा गाय खाती है तो दूध हो जाता है, और खेतमें खाद डालनेसे अनाज हो जाता है। इस तरह उत्पन्न हुए अनाजके आहारको विष्ठातुल्य समझ, उसकी चर्चा न करनी चाहिये। वह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे सर्वथा मौन नहीं रहा जाता, और यदि रहें भी तो अंतरकी कल्पना दूर होती नहीं; और जबतक कल्पना रहे तबतक उसके लिये कोई रास्ता निकालना ही चाहिये। इसलिये पीछेसे वे लिखकर कल्पनाको बाहर निकालते हैं। परमार्थ काममें बोलना चाहिये। व्यवहार काममें

प्रयोजनके विना व्यर्थकी वातें करनी नहीं। जहाँ माथापच्ची होती हो वहाँसे दूर रहना चाहिये—वृत्ति कम करनी चाहिये।

क्रोध, मान, माया, लोभको मुझे कम करना है, ऐसा जब लक्ष होगा—जब उसका थोड़ा थोड़ा भी लक्ष्य किया जायगा–तब वादमें वह सरल हो जायगा। आत्माको आवरण करनेवाले दोष जब जाननेमें आ जाँय तब उन्हें दूर भगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोध आदिके थोड़े थोड़े कम होनेके वाद सब सहज हो जायगा। वादमें उन्हें नियममें लेनेके लिये जैसे बने अभ्यास रखना चाहिये; और विचारमें समय विताना चाहिये। किसीके प्रसंगसे क्रोध आदिके उत्पन्न होनेका निमित्त हो तो उसे मानना नहीं चाहिये, क्योंकि जब स्वयं ही क्रोध करें तभी क्रोध होता है। जिस समय अपनेपर कोई क्रोध करे, उस समय विचारना चाहिये कि उस विचारेको हालमें उस प्रकृतिका उदय है; यह स्वय ही घड़ी दो घड़ीमें शात हो जायगा। इसलिये जैसे बने तैसे अंतर्विचार कर स्वयं स्थिर रहना चाहिये। क्रोध आदि कषायको हमेशा विचार विचारकर कम करना चाहिये। तृष्णा कम करनी चाहिये। क्योंकि वह एकात दुःखदायी है। जैसा उदय होगा वैसा होगा, इसलिये तृष्णाको अवश्य कम करना चाहिये। वाह्य प्रसगोंको जैसे बने वैसे कम करना चाहिये।

चैलातीपुत्रने किसीका सिर काट लिया था। वादमें वह ज्ञानीको मिला, और कहा कि मोक्ष दे, नहीं तो तेरा भी सिर काट डालूँगा। इसपर ज्ञानीने कहा कि क्या तू ठीक कहता है? विवेक (सच्चेको सच्चा समझना), शम (सबके ऊपर समभाव रखना) और उपशम (वृत्तियोंको वाहर न जाने देना और अंतर्वृत्ति रखना) को विशेषातिविशेष आत्मामें परिणमानेसे आत्माको मोक्ष मिलती है।

कोई सम्प्रदायवाला कहता है कि वेदातियोंकी मुक्तिकी अपेक्षा—इस भ्रम-दशाकी अपेक्षा–तो चार गतियाँ ही श्रेष्ठ हैं; इनमें अपने आपको सुख दुःखका अनुभव तो रहता है।

सिद्धमें संवर नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म आते नहीं, इसलिये फिर उनका निरोध भी नहीं होता। मुक्तमें एक गुणसे—अंशसे—लगाकर सम्पूर्ण अंशोंतक स्वभाव ही रहता है। सिद्धदशामें स्वभावसुख प्रगट हो गया है, कर्मके आवरण दूर हो गये हैं, तो फिर अब संवर-निर्जरा किसे रहेंगे? वहाँ तीन योग भी नहीं होते। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग इन सबसे मुक्त उनको कर्मोंका आगमन नहीं होता। इसलिये उनके कर्मोंका निरोध भी नहीं होता। जैसे एक हजारकी रकम हो, और उसे थोड़ी थोड़ी पूरी कर दें तो खाता बंद हो जाता है, इसी तरह कर्मके जो पाँच कारण थे, उन्हें संवर-निर्जरासे समाप्त कर दिया, इसलिये पाँच कारणोंरूपी खाता बंद हो गया, अर्थात् वह फिर पीछेसे किसी भी तरह प्राप्त नहीं होता।

धर्मसंन्यास=क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका छेदन करना।

जीव तो सदा जीवित ही है। वह किसी समय भी सोता नहीं अथवा मरता नहीं—मरना उसका संभव नहीं। स्वभावसे सब जीव जीवित ही हैं। जैसे श्वासोच्छ्वासके विना कोई जीव देखनेमें आता नहीं, उसी तरह ज्ञानस्वरूप चैतन्यके विना कोई जीव नहीं है।

आत्माकी निंदा करना चाहिये और ऐसा खेद करना चाहिये जिससे वैराग्य उत्पन्न हो—संसार मिथ्या माद्धम हो। चाहे कोई भी मर जाय परन्तु जिसकी आँखमें आँसू आ जाँय—संसारको

असार मान जन्म, जरा, मरणको महा भयकर समझ वैराग्य प्राप्त कर आँसू आ जाँय—वह उत्तम है। अपना पुत्र मर जाय और रोने लगे, तो इसमें कोई विशेषता नहीं, वह तो मोहका कारण है।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं हो सकता ? इसने बड़े बड़े पर्वतके पर्वत काट डाले है, और कैसे कैसे विचारकर उनको रेलवेके काममें लिया है। यह तो केवल बाहरका काम है, फिर भी विजय प्राप्त की है। आत्माका विचार करना, यह कुछ बाहरकी बात नहीं। जो अज्ञान है उसके दूर होनेपर ज्ञान होता है।

अनुभवी वैद्य दवा देता है, परन्तु यदि रोगी उसे गलेमें उतारे तो ही रोग मिटता है। उसी तरह सद्गुरु अनुभवपूर्वक ज्ञानरूप दवा देता है, परन्तु उसे मुमुक्षु ग्रहण करनेरूप गले उतारे तो ही मिथ्यात्वरूप रोग दूर होता है।

दो घड़ी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो जाय—ऐसा कहा है। रेलवे इत्यादि, चाहे कैसा भी पुरुषार्थ क्यों न करें तो भी दो घड़ीमें तैय्यार होतीं नहीं, तो फिर केवलज्ञान कितना सुलभ है, इसका विचार तो करो।

जो बातें जीवको शिथिल कर डालती है—प्रमादी कर डालती हैं, वैसी बातें सुनना नहीं। इसीके कारण जीव अनादिकालसे भटका है। भव-स्थिति काल आदिका आलंबन लेना नहीं। ये सब बहाने हैं।

जीवको सासारिक आलंबन—विडम्बनायें—छोड़ना तो है नहीं, और वह मिथ्या आलंबन लेकर कहता है कि कर्मके दल मौजूद हैं इसलिये मेरेसे कुछ बन नहीं सकता। ऐसे आलबन लेकर जीव पुरुषार्थ करता नहीं। यदि वह पुरुषार्थ करे और भवस्थिति अथवा काल रुकावट डालें तो उसका उपाय हम कर लेंगे, परन्तु पहिले तो पुरुषार्थ करना चाहिये।

सत्पुरुषकी आज्ञाका आराधन करना भी परमार्थरूप ही है। उसमें लाभ ही है। यह व्यापार लाभका ही है।

जिस आदमीने लाखों रुपयोंके सामने पीछा फिरकर देखा नहीं, वह अब जो हज़ारके व्यापारमें बहाना निकालता है, उसका कारण यही है कि अतरसे आत्मार्थकी इच्छा नहीं है। जो आत्मार्थी हो गया है वह पीछा फिरकर देखता नहीं—वह तो पुरुषार्थ करके सामने आ जाता है। शास्त्रमें कहा है कि आवरण, स्वभाव, भवस्थिति कब पकती हैं ? तो कहते हैं कि जब पुरुषार्थ करे तब।

पाँच कारण मिल जाँय तो मुक्ति हो जाय। ये पाँचों कारण पुरुषार्थमें अन्तर्हित हैं। अनत चौथे आरे मिल जाँय, परन्तु यदि स्वय पुरुषार्थ करे तो ही मुक्ति प्राप्त होती है। जीवने अनत कालसे पुरुषार्थ किया नहीं। समस्त मिथ्या आलंबनोंको लेकर मार्गमें विघ्न डाले हैं। कल्याण-वृत्ति उदित हो तब भवस्थिति परिपक्व हुई समझनी चाहिये। शूरता हो तो वर्षका काम दो घड़ीमें किया जा सकता है।

प्रश्नः—व्यवहारमें चौथे गुणस्थानमें कौन कौन व्यवहार लागू होता है ? शुद्ध व्यवहार या और कोई ?

उत्तर.—उसमें दूसरे सभी व्यवहार लागू होते हैं। उदयसे शुभाशुभ व्यवहार होता है, और परिणतिसे शुद्ध व्यवहार होता है।

परमार्थसे वह शुद्ध कर्त्ता कहा जाता है। प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानीको खपा दिया है, इसलिये वह शुद्ध व्यवहारका कर्त्ता है। समकितीको अशुद्ध व्यवहार दूर करना है। समकिती परमार्थसे शुद्ध कर्त्ता है। नयके अनेक प्रकार हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँची आवे, पुरुषार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकार विचारना चाहिये। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलके ऊपर लक्ष रखना चाहिये। एक यदि सम्यक् उपयोग हो तो अपनेको अनुभव हो जाय कि कैसी अनुभव-दशा प्रगट होती है।

सत्संग हो तो समस्त गुण सहजमें ही हो जाँय। दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-मर्यादा आदि अहंकाररहित करने चाहिये। लोगोंको बतानेके लिये कुछ भी करना नहीं चाहिये। मनुष्यभव मिला है, और सदाचारका सेवन न करे, तो फिर पीछे पछताना होगा। मनुष्यभवमें सत्पुरुषके वचनके सुननेका–विचार करनेका—संयोग मिला है।

सत्य बोलना, यह कुछ मुश्किल नहीं—बिलकुल सहज है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हों उन्हें ही करना चाहिये। यदि छह महीनेतक इस तरह आचरण किया जाय तो फिर सत्यका बोलना सरल हो जाता है। सत्य बोलनेसे, कदाचित् प्रथम तो थोड़े समयतक थोड़ा नुकसान भी हो सकता है, परन्तु पीछेसे अनंत गुणकी धारक आत्मा जो तमाम लुटी जा रही है, वह लुटती हुई बंद हो जाती है। सत्य, बोलनेसे धीमे धीमे सहज हो जाता है; और यह होनेके पश्चात् व्रत लेना चाहिये—अभ्यास रखना चाहिये, क्योंकि उत्कृष्ट परिणामवाली आत्मा कोई विरली ही होती है।

जीवने यदि अलौकिक भयसे भय प्राप्त किया हो, तो उससे कुछ भी नहीं होता। लोक चाहे जैसे बोले उसकी परवा न करते हुए, जिससे आत्म-हित हो उस सदाचरणका सेवन करना चाहिये।

ज्ञान जो काम करता है वह अद्भुत है। सत्पुरुषके वचनके बिना विचार नहीं आता। विचारके बिना वैराग्य नहीं आता—वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं आता। इस कारण सत्पुरुषके वचनोंका बारबार विचार करना चाहिये।

वास्तविक आशंका दूर हो जाय तो बहुत-सी निर्जरा हो जाती है। जीव यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उसे बारबार बोध होता हो तो बहुत फल हो।

जो सात अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिये हैं, और आत्मार्थ ही एक सच्चा नय है। नयका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो फल होता है—अन्तमें उपशम आवे तो फल होता है; नहीं तो जीवको नयका ज्ञान जालरूप ही हो जाता है, और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे वह जाल दूर हो जाता है।

व्याख्यानमें कोई भगजाल, राग (स्वर) निकालकर सुनाता है, परन्तु उसमे आत्मार्थ नहीं। यदि सत्पुरुषके आश्रयसे कषाय आदि मंद करो और सदाचारका सेवन करके अहंकार रहित हो जाओ, तो तुम्हारा और दूसरेका हित हो सकता है। दंभरहित आत्मार्थसे सदाचार सेवन करना चाहिये, जिससे उपकार हो।

खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस काममें आ सकती है? उसी तरह जबतक ऐसी स्थिति हो कि आत्मामें उपदेश प्रवेश न करे, तबतक वह किस कामका? जबतक उपदेश-वार्ता आत्मामें प्रवेश न करे तबतक उसे फिर फिर मनन करना और विचारना चाहिये—उसका पीछा छोड़ना

नहीं चाहिये—कायर होना नहीं चाहिये—कायर हो जाय तो आत्मा ऊंची नहीं जाती। ज्ञानका अभ्यास जिस तरह बने बढ़ाना चाहिये—अभ्यास रखना चाहिये—उसमें कुटिलता अथवा अहंकार नहीं रखना चाहिये।

आत्मा अनंत ज्ञानमय है। जितना अभ्यास बढ़े उतना ही कम है। सुंदरविलास आदिके पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये। गच्छकी अथवा मतमतातरकी पुस्तकें हाथमें नहीं लेना। परम्परासे भी कदाग्रह आ जाय तो जीव पीछेसे मारा जाता है, इसलिये कदाग्रहकी वातोंमें नहीं पड़ना। मतोंसे अलग रहना चाहिये—दूर रहना चाहिये। जिस पुस्तकसे वैराग्य-उपशम हो, वे समकितदृष्टिकी पुस्तकें हैं। वैराग्यकी पुस्तकें पढ़ना चाहिये।

दया सत्य आदि जो साधन हैं, वे विभावको त्याग करनेके साधन हैं। अंतस्पर्शसे विचारको वड़ा आश्रय मिलता है। अवतकके साधन विभावके आधार-स्तंभ थे, उन्हें सच्चे साधनोंसे ज्ञानी-पुरुष हिला डालते हैं। जिसे कल्याण करना हो उसे सत्य-साधन अवश्य करना चाहिये।

सत्समागममें जीव आया और इन्द्रियोंकी लुब्धता न गई, तो वह सत्समागममे आया ही नहीं, ऐसा समझना चाहिये। जबतक सत्य बोले नहीं तबतक गुण प्रगट नहीं होते। सत्पुरुप हाथसे पकड़कर व्रत दे तो लो। ज्ञानी-पुरुप परमार्थका ही उपदेश देता है। मुमुक्षुओंको सत्साधनोंका सेवन करना योग्य है।

समकितके मूल वारह व्रत हैं:—स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद; स्थूल कहनेका हेतु०—

ज्ञानीने आत्माका और ही मार्ग समझाया है। व्रत दो प्रकारके हैं:—समकितके विना वाह्य व्रत है; और समकितसहित अंतर्व्रत है। समकितसहित वारह व्रतोंका परमार्थ समझमें आ जाय तो फल होता है।

वाह्यव्रत अंतर्व्रतके लिये है, जैसे कि एकका अंक सिखानेके लिये लकीरें वनाई जातीं हैं। यद्यपि प्रथम तो लकीरें करते हुए एकका अंक टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है, परन्तु इस तरह करते करते पीछेसे वह अंक ठीक ठीक वनने लगता है।

जीवने जो जो कुछ श्रवण किया है, वह सव मिथ्या ही ग्रहण किया है। ज्ञानी विचारा क्या करे? कितना समझावे? वह समझानेकी रीतिसे ही तो समझाता है। मार कूटकर समझानेसे तो आत्मज्ञान होता नहीं। पहिले जो जो व्रत आदि किये वे सव निष्फल ही गये, इसलिये अव सत्पुरुपकी दृष्टिसे परमार्थ समझकर करो। एक ही व्रत हो, परन्तु वह मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे वंध है, और सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षासे निर्जरा है। पूर्वमें जो व्रत आदि निष्फल गये, उन्हें अव सफल करने योग्य सत्पुरुषका योग मिला है; इसलिये पुरुपार्थ करना चाहिये। सदाचरणका आश्रयसहित सेवन करना चाहिये—मरण आनेपर पीछे हटना नहीं चाहिये। ज्ञानीके वचन श्रवण होते नहीं—मनन होते नहीं, नहीं तो दशा वदले विना कैसे रह सकती है?

आरंभ-परिग्रहको न्यून करना चाहिये। पढ़नेमें चित्त न लगे तो उसका कारण नीरसता माल्रम होती है। जैसे कोई आदमी नीरस आहार कर ले तो फिर उसे पीछेसे भोजन अच्छा नहीं लगता।

ज्ञानियोंने जो कहा है, उससे जीव विपरीत ही चलता है, फिर सत्पुरुपकी वाणी कहाँसे लग सकती है? लोक-लाज आदि शल्य हैं। इस शल्यके कारण जीवका पानी चमकता नहीं। उस शल्यपर

यदि सत्पुरुषके वचनरूपी टॉकीसे दरार पड जाय तो पानी चमक उठे । जीवका शल्य हजारों दिनके जातियेगके कारण दूर नहीं होता, परन्तु सत्सगका सयोग यदि एक महीनेतक भी हो तो वह दूर हो जाय, और जीव रास्तेसे चला जाय ।

बहुतसे लघुकर्मी संसारी जीवोंको पुत्रके ऊपर मोह करते हुए जितना खेद होता है उतना भी वर्तमानके बहुतसे साधुओंको शिष्यके ऊपर मोह करते हुए होता नहीं !

तृष्णावाला जीव सदा भिखारी; संतोषवाला जीव सदा सुखी ।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी, सच्चे धर्मकी पहिचान होना बहुत मुश्किल है । सच्चे गुरुकी पहिचान हो, उसका उपदेश हो, तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहिचान हो जाय । सबका स्वरूप सद्गुरुमें समा जाता है ।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ, और सच्चे हरि राग-द्वेष जिसके दूर हो गये हैं । ग्रंथरहित अर्थात् गाँठरहित । मिथ्यात्व अंतर्ग्रन्थि है । परिग्रह बाह्य ग्रन्थि है । मूलमें अभ्यंतर ग्रंथि छिन्न न हो तबतक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं आता । जिसकी ग्रन्थि नष्ट हो गई है, वैसा पुरुष मिले तो सचमुच काम हो जाय, और उसमें यदि सत्समागम रहे तो विशेष कल्याण हो । जिस मूल गाँठका शास्त्रमें छेदन करना कहा है, उसे सब भूल गये हैं, और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं । दुःखके सहन करनेसे भी मुक्ति होती नहीं, क्योंकि दुःख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है, जीव उसे भूल गया है । दुःख अज्ञानका है ।

अंदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है, अंदरसे छूटे बिना बाहरसे छूटता नहीं । केवल बाहर बाहरसे छोड़ देनेसे काम नहीं होता । आत्म-साधनके बिना कल्याण होता नहीं ।

बाह्य और अंतर जिसे दोनों साधन हैं, वह उत्कृष्ट पुरुष है, और इसलिये वह श्रेष्ठ है । जिस साधुके संगसे अंतर्गुण प्रगट हो उसका संग करना चाहिये । कलई और चाँदीके रुपये दोनों समान नहीं कहे जाते । कलईके ऊपर सिक्का लगा दो, फिर भी उसकी रुपयेकी कीमत नहीं होती; और चाँदी हो तो उसके ऊपर सिक्का न लगाओ तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । उसी तरह यदि गृहस्थ अवस्थामें समकित हो, तो उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । सब कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है । आत्मामें राग-द्वेषके नाश होनेपर ज्ञान प्रगट होता है । चाहे जहाँ बैठो और चाहे जिस स्थितिमें हो, मोक्ष हो सकती है, परन्तु राग-द्वेष नष्ट हो तभी तो । मिथ्यात्व और अहकार नाश हुए बिना कोई राजपाट छोड़ दे, वृक्षकी तरह सूख जाय, फिर भी मोक्ष नहीं होती । मिथ्यात्व नाश होनके पश्चात् ही सब साधन सफल हैं । इस कारण सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है ।

ससारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमें अपनापन हो रहा है, और कषायका जो भरा हुआ है, वह रात्रि-भोजन न करे तो भी क्या हुआ ? जब मिथ्यात्व चला जाय तभी उसका सत्फल होता है ।

हालमें जैनधर्मके जितने साधु फिरते हैं, उन सभीको समकिती नहीं समझना; उन्हें दान देनेमें हानि नहीं, परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते । वेश कल्याण नहीं करता । जो साधु केवल बाह्य क्रियायें किया करता है, उसमें ज्ञान नहीं ।

ज्ञान तो वह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जातीं हैं—संसारपरसे सच्ची प्रीति घट जाती है—जीव सच्चेको सच्चा समझने लगता है । जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान ।

मनुष्यभव पाकर भटकनेमें और स्त्री-पुत्रमें तदाकार होकर, यदि आत्म-विचार नहीं किया, अपना दोष नहीं देखा, आत्माकी निन्दा नहीं की, तो वह मनुष्यभव—चिंतामणि रत्नरूप देह—वृथा ही चला जाता है।

जीव कुसगसे और असद्गुरुसे अनादिकालसे भटका है, इसलिये सत्पुरुषको पहिचानना चाहिये। सत्पुरुष कैसा है ? सत्पुरुष तो वह है कि जिसका देहके ऊपरसे ममत्व दूर हो गया है—जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है। ऐसे ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष कम हो जाँय, कषाय आदि मद पड़ जाँय और परिणाममें सम्यक्त्व उत्पन्न हो।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वास्तविक पाप हैं। उनसे बहुत कर्मोंका उपार्जन होता है। हजार वर्ष तप किया हो परन्तु यदि एक-दो घडी भी क्रोध कर लिया तो सब तप निष्फल चला जाता है।

'छह खडका भोक्ता भी राज्य छोड़कर चला गया, और मैं ऐसे अल्प व्यवहारमें बड़प्पन और अहंकार कर बैठा हूँ ?'—जीव ऐसा क्यों नहीं विचारता ?

आयुके इतने वर्ष व्यतीत हो गये, तो भी लोभ कुछ घटा नहीं, और न कुछ ज्ञान ही प्राप्त हुआ। चाहे कितनी भी तृष्णा हो परन्तु जब आयु पूर्ण होती है उस समय वह जरा भी काममें आती नहीं; और तृष्णा की हो तो उल्टे उससे कर्म ही बँधते हैं। असुक परिग्रहकी मर्यादा की हो—उदाहरणके लिये दस हजार रुपयेकी—तो समता आती है। इतना मिल जानेके पश्चात् धर्मध्यान करेंगे, ऐसा विचार रक्खें तो भी नियममें आ सकते हैं।

किसीके ऊपर क्रोध नहीं करना। जैसे रात्रि-भोजनका त्याग किया है, वैसे ही क्रोध मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोड़नेके लिये प्रयत्न करके उन्हें मद करना चाहिये। उनके मद पड़ जानेसे अन्तःमें सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जीव विचार करे तो अनतों कर्म मंद पड़ जॉय, और यदि विचार न करे तो अनतों कर्मोंका उपार्जन हो।

जब रोग उत्पन्न होता है तब स्त्री, बाल-बच्चे, भाई अथवा दूसरा कोई भी रोगको ले नहीं सकता।

संतोषसे धर्मध्यान करना चाहिये, लड़के-बच्चों वगैरह किसीकी अनावश्यक चिंता नहीं करनी चाहिये। एक स्थानमें बैठकर विचार कर, सत्पुरुषके सगसे, ज्ञानीके वचन मननकर विचारकर धन आदिकी मर्यादा करनी चाहिये।

ब्रह्मचर्यको याथातथ्य प्रकारसे तो कोई विरला ही जीव पाल सकता है, तो भी लोक-लाजसे भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो वह उत्तम है।

मिथ्यात्व दूर हो गया हो तो चार गति दूर हो जाती हैं। समकित न आया हो और ब्रह्मचर्यका पालन करे तो देवलोक मिलता है।

जीवने वैश्य, ब्राह्मण, पशु, पुरुष, स्त्री आदिकी कल्पनासे 'मैं वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, पशु हूँ'—ऐसा मान रक्खा है, परन्तु जीव विचार करे तो वह स्वय उनमेंसे कोई भी नहीं। 'मेरा' स्वरूप तो उससे जुदा ही है।

सूर्यके उद्योतकी तरह दिन बीत जाता है, तथा अंजुलिके जलकी तरह आयु बीत जाती है। जिस तरह लकड़ी आरीसे काटी जाती है, वैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है; तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नहीं करता और मोहके ढेरको इकट्ठा किया करता है।

'सबकी अपेक्षा मैं संसारमें बड़ा हो जाऊँ' ऐसे बडप्पनके प्राप्त करनेकी तृष्णामें, पाँच इन्द्रियोंमें लवलीन, मद्यपायीकी तरह, मृग-तृष्णाके जलके समान, संसारमें जीव भ्रमण किया करता है; और कुल, गोत्र और गतियोंमें मोहके नचानेसे नाचा करता है।

जिस तरह कोई अंधा रस्सीको बटता जाता है, और बछड़ा उसे चबाता जाता है, उसी तरह अज्ञानीकी क्रिया निष्फल चली जाती है।

'मैं कर्त्ता हूँ, मैं करता हूँ, मैं कैसा करता हूँ' इत्यादि जो विभाव है, वही मिथ्यात्व है। अहंकारसे संसारमें अनंत दुःख प्राप्त होता है—चारों गतियोंमें भटकना होता है!

किसीका दिया हुआ दिया नहीं जाता, किसीका लिया हुआ लिया नहीं जाता; जीव व्यर्थकी कल्पना करके ही भटका करता है। जिस प्रमाणमें कर्मोंका उपार्जन किया हो उसी प्रमाणमें लाभ, अलाभ, आयु, साता असाता मिलते हैं। अपने आपसे कुछ दिया लिया नहीं जाता। जीव अहंकारसे 'मैंने इसे सुख दिया, मैंने दुःख दिया, मैंने अन्न दिया' ऐसी मिथ्या भावनायें किया करता है और उसके कारण कर्म उपार्जन करता है। मिथ्यात्वसे विपरीत धर्मका उपार्जन करता है।

जगत्में यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है, ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु कोई भी किसीका नहीं। पूर्व कर्मके उदयसे ही सब कुछ बना है।

अहंकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है, वह भूला हुआ है—वह ार गतियोंमें भटकता है, और दुःख भोगता है।

अधमाधम पुरुषके लक्षणः—सत्पुरुषको देखकर जिसे रोष उत्पन्न होता है, उसके सच्चे वचन सुनकर जो उसकी निंदा करता है–खोटी बुद्धिवाला जैसे सद्बुद्धिवालेको देखकर रोष करता है–सरलको मूर्ख कहता है, जो विनय करे उसे धनका खुशामदी कहता है, पाँच इन्द्रियाँ जिसने वश की हों उसे भाग्यहीन कहता है, सच्चे गुणवालेको देखकर रोष करता है, जो स्त्री-पुरुषके सुखमें लवलीन रहता है—ऐसे जीव कुगतिको प्राप्त होते हैं। जीव कर्मके कारण अपने स्वरूप-ज्ञानसे अंध है, उसे ज्ञानकी खबर नहीं है।

एक नामके लिए—मेरी नाक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूरवीरता दिखानेके लिये लड़ाईमें उतरता है—पर नाककी तो राख हो जानेवाली है।

देह कैसी है? रेतके घर जैसी। स्मशानकी मढ़ी जैसी। पर्वतकी गुफाके समान देहमें अंधेरा है। चमड़ीके कारण देह ऊपर ऊपरसे सुंदर मालूम होती है। देह अवगुणका घर तथा माया और मैलके रहनेका स्थान है। देहमें प्रेम रखनेके कारण जीव भटका है। वह देह अनित्य है, बदफैलकी खान है। उसमें मोह रखनेसे जीव चार गतियोंमें भटकता है। किस तरह भटकता है? घाणीके बैलकी तरह। आँखपर पट्टी बाँध लेता है, चलनेके मार्गमें उसे तंग होकर चलना पड़ता है, छूटनेकी इच्छा होनेपर भी वह छूट नहीं सकता, भूखसे पीडित होनेपर भी वह कह नहीं सकता, श्वासोच्छ्वास वह निराकुलतासे ले नहीं सकता। उसकी तरह जीव भी पराधीन है। जो संसारमें प्रीति करता है, वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है।

धुँवे जैसे कपड़े पहिनकर वे आडम्बर रचते हैं, परन्तु वे धुँवेकी तरह नाश हो जानेवाले हैं। आत्माका ज्ञान मायाके कारण दबा हुआ रहता है।

जो जीव आत्मेच्छा रखता है, वह पैसेको नाकके मैलकी तरह त्याग देता है। जैसे मक्खियाँ मिठाईपर चिपटी रहती हैं, उसी तरह ये अभागे जीव कुटुम्बके सुखमें लवलीन हो रहे हैं।

वृद्ध, युवा, बालक—ये सब संसारमें डूबे हुए हैं—कालके मुखमें हैं, ऐसा भय रखना चाहिये। उस भयको रख संसारमें उदासीनतासे रहना चाहिये।

सौ उपवास करे, परन्तु जबतक भीतरसे वास्तविक दोष दूर न हों तबतक फल नहीं होता।

श्रावक किसे कहना चाहिये ? जिसे संतोष आया हो, कषाय जिसकी मंद पड़ गई हों, भीतरसे गुण उदित हुए हों, सत्संग मिला हो—उसे श्रावक कहना चाहिये। ऐसे जीवको बोध लगे तो समस्त वृत्ति बदल जाय—दशा बदल जाय। सत्संग मिलना यह पुण्यका योग है।

जीव अविचारसे भूले हुए हैं। जरा कोई कुछ कह दे तो तुरत ही बुरा लग जाता है, परन्तु विचार नहीं करते कि मुझे क्या ? वह कहेगा तो उसे ही कर्म-बंध होगा।

सामायिक समताको कहते हैं। जीव अहंकार कर बाह्य-क्रिया करता है, अहंकारसे माया खर्च करता है—वे कुगतिके कारण हैं। सत्संगके बिना यह दोष नहीं घटता।

जीवको अपने आपको होशियार कहलवाना बहुत अच्छा लगता है। वह बिना बुलाये होशियारी करके बड़ाई लेता है। जिस जीवको विचार नहीं, उसके छूटनेका अन्त नहीं। यदि जीव विचार करे और सन्मार्गपर चले तो छूटनेका अन्त आवे।

अहंकारसे मानसे कैवल्य प्रगट नहीं होता। वह बड़ा दोष है। अज्ञानमें बड़े छोटेकी कल्पना रहती है। बाहुबलिजीने विचारा कि मैं अंकुशरहित हूँ, इसलिये———————

(११) आनंद, भाद्रपद वदी १४ सोम.

पंदरह भेदोंसे जो सिद्ध कहा है, उसका कारण यह है कि जिसका राग द्वेष और अज्ञान नष्ट हो गया है, उसका चाहे जिस वेषसे, चाहे जिस स्थानसे और चाहे जिस लिंगसे कल्याण हो जाता है।

सत् मार्ग एक ही है, इसलिये आग्रह नहीं रखना। अमुक ढूँढिया है, अमुक तपा है, ऐसी कल्पना नहीं रखना। दया सत्य आदि सदाचरण मुक्तिके मार्ग हैं इसलिये सदाचरण सेवन करना चाहिये।

लोंच करना किस लिये कहा है ? शरीरकी ममताकी वह परीक्षा है। (सिरमें बाल होना) यह मोह बढ़नेका कारण है। उससे स्नान करनेका मन होता है, दर्पण लेनेका मन होता है, उसमें मुँह देखनेका मन होता है, और इससे फिर उनके साधनोंके लिये उपाधि करनी पड़ती है, इस कारण ज्ञानियोंने केशलोंच करनेके लिये कहा है।

यात्रा करनेका एक तो कारण यह है कि गृहवासकी उपाधिसे निवृत्ति मिल सके, दूसरे सौ दोसौ रुपयोंके ऊपरसे मूर्च्छाभाव कम हो सके, तथा परदेशमें देशाटन करनेसे कोई सत्पुरुष खोजते खोजते मिल जाय तो कल्याण हो जाय। इन कारणोंसे यात्रा करना बताया है।

जो सत्पुरुष दूसरे जीवोंको उपदेश देकर कल्याण बताते हैं, उन सत्पुरुषोंको तो अनंत लाभ प्राप्त हुआ है। सत्पुरुष दूसरे जीवकी निष्काम करुणाके सागर हैं। वाणीके उदय अनुसार उनकी

वाणी निकलती है। वे किसी जीवको ऐसा नहीं कहते कि तू दीक्षा ले ले। तीर्थंकरने पूर्वमें जो कर्म बाँधे हैं, उनका वेदन करनेके लिये वे दूसरे जीवोंका कल्याण करते हैं, नहीं तो उन्हें उदयानुसार दया रहती है। वह दया निष्कारण ह, तथा उन्हे दूसरेकी निर्जरासे अपना कल्याण नहीं करना है। उनका कल्याण तो हो ही गया है। वह तीन लोकका नाथ तो पार होकर ही बैठा है। सत्पुरुष अथवा समकितीको भी ऐसी (सकाम) उपदेश देनेकी इच्छा नहीं होती। वह भी निष्कारण दयाके वास्ते ही उपदेश देता है। महावीरस्वामी गृहवासमें रहते हुए भी त्यागी जैसे थे।

हजारो वर्षका संयमी भी जैसा वैराग्य नहीं रख सकता, वैसा वैराग्य भगवान्का था। जहाँ जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ वहाँ सब प्रकारका उपकार भी रहता है। उनकी वाणी उदयके अनुसार शातिपूर्वक परमार्थ हेतुसे निकलती है, अर्थात् उनकी वाणी कल्याणके लिये ही होती है। उन्हें जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान थे। उस पुरुषके गुणगान करनेसे अनत निर्जरा होती है। ज्ञानीकी बात अगम्य है। उनका अभिप्राय जाननेमें नहीं आता। ज्ञानी-पुरुषकी सच्ची खूबी यह है कि उन्होंने अनादिसे दूर न होनेवाले राग-द्वेष और अज्ञानको छिन्न-भिन्न कर डाला है। इस भगवान्की अनंत कृपा है। उन्हें पच्चीससौ वर्ष हो गये, फिर भी उनकी दया आदि आजकल भी मौजूद हैं। यह उनका अनंत उपकार है। ज्ञानी आडम्बर दिखानेके लिये व्यवहार करते नहीं। वे सहज स्वभावसे उदासीन भावसे रहते है।

ज्ञानी दोषके पास जाकर दोषका छेदन कर डालता है; जब कि अज्ञानी जीव दोषको छोड़ नहीं सकता। ज्ञानीकी बात अद्भुत है।

वाड़ेमें कल्याण नहीं है। अज्ञानीका वाड़ा होता है। जैसे पत्थर स्वयं नहीं तैरता और दूसरेको भी नहीं तैराता, उसी तरह अज्ञानी है। वतिरागका मार्ग अनादिका है। जिसके राग द्वेष और अज्ञान दूर हो गये, उसका कल्याण हो गया। परन्तु अज्ञानी कहे कि मेरे धर्मसे कल्याण है, तो उसे मानना नहीं। इस तरह कल्याण होता नहीं। ढूँढियापना अथवा तपापना माना हो तो कषाय चढ़ती है। तपा ढूढियाके साथ बैठा हो तो कषाय चढ़ती है, और ढूँढिया तपाके साथ बैठे तो कषाय चढ़ती है—इन्हें अज्ञानी समझना चाहिये। दोनों ही समझे बिना वाड़ा बाँधकर कर्म उपार्जन कर भटकते फिरते हैं। बोहरेकी* नाड़ेकी तरह वे मताग्रह पकड़े बैठे हैं। मुँहपत्ति आदिके आग्रहको छोड़ देना चाहिये।

जैनमार्ग क्या है? राग, द्वेष और अज्ञानका नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओंने भोले जीवोंको समझाकर उन्हें मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वय विचार करे कि मेरा दोष कौनसा कम

---

*बोहरा (वोरा) इस्लाम धर्मकी एक शाखाके अनुयायी मुसलमानोंकी एक जाति होती है। बोहरा लोग मूलमें सिद्धपुर (गुजरात) के निवासी ब्राह्मण थे। ये लोग मुसलमानोंके राज्य-समयमें मुसलिम धर्मके अनुयायी हो गये थे। बोहरा लोग प्राय. व्यापारी ही होते हैं। कहा जाता है कि जहाँतक बने ये लोग नौकरी पेशा करना पसंद नहीं करते। इनके धर्मगुरु मुल्लाजीका प्रधान-केन्द्र सूरतमें है। एक बारकी बात है कि कोई बोहरा व्यापारी गाड़ीमें माल भरकर चला जा रहा था। रास्तेमें कोई गड्ढा आया तो गाड़ीवानने बोहराजीसे 'नाड़ा' पकड़कर होशियार होकर बैठ जानेको कहा। नाड़ेके दो अर्थ होते हैं। एक तो पायजामेमें जो इजहारबन्द होता है, उसे नाड़ा कहते हैं, और दूसरे रस्सी—डोरी—को भी नाड़ा कहते हैं। गाड़ीवानका अभिप्राय इस रस्सीको ही पकड़कर बैठे रहनेका था। परन्तु बोहराजीने समझा कि गाड़ीवान इजहारबन्दको पकड़कर बैठनेके लिये कह रहा है। इसलिये वे अपने नाड़ेको जोरसे पकड़कर बैठ गये। —अनुवादक.

हुआ है, तो मालूम होगा कि जैनधर्म तो मेंसे दूर ही रहा है। जीव उल्टी समझसे अपने कल्याणको भूल-कर दूसरेका अकल्याण करता है। तपा ढूंढियाके साधुको, और ढूंढिया तपाके साधुको अन्न-पानी न देनेके लिये अपने अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं। कुगुरु लोग एक दूसरेको मिलने नहीं देते। यदि वे एक दूसरेको मिलने दें तो कषाय कम हो जाय—निन्दा घट जाय।

जीव निष्पक्ष नहीं रहता। वह अनादिसे पक्षमें पड़ा हुआ है, और उसमें रहकर कल्याण भूल जाता है।

बारह कुलकी जो गोचरी कही है, उसे बहुतसे मुनि नहीं करते। उनका कपड़े आदि परिग्रहका मोह दूर हुआ नहीं। एक बार आहार लेनेके लिये कहा है फिर भी वे दो बार लेते हैं। जिस ज्ञानी-पुरुषके वचनसे आत्मा उच्च दशा प्राप्त करे वह सच्चा मार्ग है—वह अपना मार्ग है। सच्चा धर्म पुस्तकमें है, परन्तु आत्मामें गुण प्रगट न हों तबतक वह कुछ फल नहीं देता। 'धर्म अपना है' ऐसी एक कल्पना ही है। अपना धर्म क्या है? जैसे महासागर किसीका नहीं, उसी तरह धर्म भी किसीके बापका नहीं है। जिसमें दया सत्य आदि हों, उसीको पालो। वह किसीके बापका नहीं है। वह अनादिकालका है—शाश्वत है। जीवने गाँठ पकड़ ली है कि धर्म अपना है। परन्तु शाश्वत मार्ग क्या है? शाश्वत मार्गसे सब मोक्ष गये हैं। रजोहरण, डोरी, मुँहपत्ती या कपड़ा कोई आत्मा नहीं। बोहरेकी नाड़ेकी तरह जीव पक्षका आग्रह पकड़े बैठा है—ऐसी जीवकी मूढ़ता है। 'अपने जैनधर्मके शास्त्रोंमें सब कुछ है, शास्त्र अपने पास हैं,' ऐसा मिथ्याभिमान जीव कर बैठा है। तथा क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चोर जो रात दिन माल चुरा रहे हैं, उसका उसे भान नहीं।

तीर्थंकरका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमें कौड़ीतक भी रखनेकी आज्ञा नहीं। वैष्णवोंके कुलधर्मके कुगुरु आरंभ-परिग्रहके छोड़े बिना ही लोगोंके पाससे लक्ष्मी ग्रहण करते हैं, और उस तरहका तो एक व्यापार हो गया है। वे स्वयं अग्निमें जलते हैं, तो फिर उनसे दूसरोंकी अग्नि किस तरह शान्त हो सकती है? जैनमार्गका परमार्थ सच्चे गुरुसे समझना चाहिये। जिस गुरुको स्वार्थ हो वह अपना अकल्याण करता है और उससे शिष्योंका भी अकल्याण होता है।

जैनलिंग धारण कर जीव अनंतों बार भटका है—बाह्यवर्ती लिंग धारण कर लौकिक व्यव-हारमें अनंतों बार भटका है। इस जगह वह जैनमार्गका निषेध करता नहीं। अंतरंगसे जो जितना सच्चा मार्ग बतावे वह 'जैन' है। नहीं तो अनादि कालसे जीवने झूठेको सच्चा माना है, और वही अज्ञान है। मनुष्य देहकी सार्थकता तभी है जब कि मिथ्या आग्रह—दुराग्रह—छोड़कर कल्याण होता हो। ज्ञानी सीधा ही बताता है। जब आत्मज्ञान प्रगट हो उसी समय आत्म-ज्ञानीपना मानना चाहिये—गुण प्रगट हुए बिना उसे मानना यह भूल है। जवाहरातकी कीमत जाननेकी शक्तिके बिना जवेरीपना मानना नहीं चाहिए। अज्ञानी मिथ्याको सच्चा नाम देकर बाड़ा बँधवा देता है। यदि सत्की पहिचान हो तो किसी समय तो सत्यका ग्रहण होगा।

(१२) आनंद, भाद्रपद १५ मंगल.

जो जीव अपनेको मुमुक्षु मानता हो, पार होनेका अभिलाषी मानता हो, और उसे देहमें रोग होते समय आकुलता-व्याकुलता होती हो, तो उस समय विचार करना चाहिये कि तेरी मुमुक्षुता—होशियारी—

कहाँ चली गई ? जो पार होनेका अभिलाषी हो वह तो देहको असार समझता है—देहको आत्मासे भिन्न मानता है—उसे आकुलता आनी चाहिये ही नहीं । देहकी सँभाल करते हुए वह सँभाली जाती नहीं, क्योंकि वह उसी क्षणमें नाश हो जाती है—उसमें क्षणभरमें रोग, क्षणभरमें वेदना हो जाती है । देहके संगसे देह दुःख देती है, इसलिये आकुलता-व्याकुलता होती है, वही अज्ञान है । शास्त्र श्रवण कर रोज रोज सुना है कि देह आत्मासे भिन्न है—क्षणभंगुर है, परन्तु देहको यदि वेदना हो तो यह जीव राग-द्वेष परिणामसे शोर-गुल मचाता है । तो फिर, देह क्षणभंगुर है, यह तुम शास्त्रमें सुनने जाते किस लिये हो ? देह तो तुम्हारे पास है तो अनुभव करो । देह स्पष्ट मिट्टी जैसी है—वह रक्खी हुई रक्खी नहीं जा सकती । वेदनाका वेदन करते हुए कोई उपाय चलता नहीं । अब फिर किसकी सँभाल करें ? कुछ भी नहीं बन सकता । इस तरह देहका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर उसकी ममता करके क्या करना ? देहका प्रगट अनुभव कर शास्त्रमें कहा है कि वह अनित्य है—देहमें मूर्च्छा करना योग्य नहीं ।

जबतक देहमें आत्मबुद्धि दूर न हो तबतक सम्यक्त्व नहीं होता । जीवको सचाई कभी आई ही नहीं, यदि आई होती तो मोक्ष हो जाती । भले ही साधुपना, श्रावकपना अथवा चाहे जो स्वीकार कर लो, परन्तु सचाई बिना सब साधन वृथा हैं । देहमें आत्मबुद्धि दूर करनेके जो साधन बताये हैं वे साधन, देहमें आत्मबुद्धि दूर हो जाय तभी सच्चे समझे जाते हैं । देहमें जो आत्मबुद्धि हुई है उसे दूर करनेके लिये, अपनेपनको त्यागनेके लिये साधन करने आवश्यक हैं । यदि वह दूर न हो तो साधुपना, श्रावकपना, शास्त्रश्रवण अथवा उपदेश सब कुछ अरण्यरोदनके समान है । जिसे यह भ्रम दूर हो गया है, वही साधु, वही आचार्य और वही ज्ञानी है । जैसे कोई अमृतका भोजन करे तो वह छिपा हुआ नहीं रहता, उसी तरह भ्रांतिका दूर होना किसीसे छिपा हुआ रहता नहीं ।

लोग कहते हैं कि समकित है या नहीं, उसे केवलज्ञानी जाने । परन्तु जो स्वयं आत्मा है वह उसे क्यों नहीं जानती ? आत्मा कुछ गाँव तो चली ही नहीं गई । अर्थात् समकित हुआ है, इसे आत्मा स्वयं ही जानती है । जैसे किसी पदार्थके खानेपर वह अपना फल देता है, उसी तरह समकितके होनेपर भ्रान्ति दूर हो जानेपर उसका फल आत्मा स्वयं ही जान लेती है । ज्ञानके फलको ज्ञान देता ही है । पदार्थके फलको पदार्थ, अपने लक्षणके अनुसार देता ही है । आत्मामेंसे—अन्तरमेंसे—यदि कर्म जानेको तैय्यार हुए हों, तो उसकी अपनेको खबर क्यों न पड़े ? अर्थात् खबर पड़ती ही है । समकितकी दशा छिपी हुई नहीं रहती । कल्पित समकितको समकित मानना, पीतलकी कंठीको सोनेकी कंठी माननेके समान है ।

समकित हुआ हो तो देहमें आत्मबुद्धि दूर होती है । यद्यपि अल्पबोध, मध्यमबोध, विशेषबोध जैसा भी बोध हुआ हो, तदनुसार ही पीछेसे देहमें आत्म बुद्धि दूर होती है । देहमें रोग होनेपर जिसे आकुलता मालूम पड़े, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए ।

जिस ज्ञानीको आकुलता-व्याकुलता दूर हो गई है, उसे अंतरंग पच्चक्खाण है ही । उसमें समस्त पच्चक्खाण आ जाते हैं । जिसके राग द्वेष दूर हो गये हैं, उसका यदि बीस बरसका पुत्र मर जाय तो भी उसे खेद नहीं होता । शरीरको व्याधि होनेसे जिसे व्याकुलता होती है, और जिसका कल्पना मात्र ज्ञान है, उसे शून्य अध्यात्मज्ञान मानना चाहिये । ऐसा कल्पित ज्ञानी शून्य-ज्ञानको अध्यात्मज्ञान मानकर अनाचारका सेवन करके बहुत ही भटकता है । देखो शास्त्रका फल !

आत्माको पुत्र भी नहीं होता और पिता भी नहीं होता। जो इस तरहकी कल्पनाको सत्य मान बैठा है वह मिथ्यात्वी है। कुसंगसे समझमें नहीं आता, इसलिये समकित नहीं आता। सत्पुरुषके संगसे योग्य जीव हो तो सम्यक्त्व होता है।

समकित और मिथ्यात्वकी तुरत ही खबर प जाती है। समकिती और मिथ्यात्वीकी वाणी घड़ी घड़ीमें जुदी पड़ती है। ज्ञानीकी वाणी एक ही धारायुक्त पूर्वापर मिलती चली आती है। जब अतरंग गाँठ खुले उसी समय सम्यक्त्व होता है। रोगको जान ले, रोगकी दवा जान ले, पथ्यको जान ले और तदनुसार उपाय करे तो रोग दूर हो जाय। रोगके जाने बिना अज्ञानी जो उपाय करता है उससे रोग बढ़ता ही है। पथ्य सेवन करे और दवा करे नहीं, तो रोग कैसे मिट सकता है? अर्थात् नहीं मिट सकता। तो फिर यह तो रोग कुछ और है, और दवा कुछ और है! कुछ शास्त्र तो ज्ञान कहा नहीं जाता। ज्ञान तो उसी समय कहा जाता है जब अतरगसे गाँठ दूर हो जाय। तप संयम आदिके लिये सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण करना बताया गया है।

ज्ञानी भगवान्ने कहा है कि साधुओंको अचित्त आहार लेना चाहिये। इस कथनको तो बहुतसे साधु भूल ही गये हैं। दूध आदि सचित्त भारी भारी पदार्थोंका सेवन करके ज्ञानीकी आज्ञाके ऊपर पाँव देकर चलना कल्याणका मार्ग नहीं। लोग कहते हैं कि वह साधु है, परन्तु आत्म-दशाकी जो साधना करे वही तो साधु है।

नरसिंहमहेता कहते हैं कि अनादिकालसे ऐसे ही चलते चलते काल बीत गया, परन्तु निस्तारा हुआ नहीं। यह मार्ग नहीं है, क्योंकि अनादिकालसे चलते चलते भी मार्ग हाथ लगा नहीं। यदि मार्ग यही होता तो अबतक कुछ भी हाथमें नहीं आया—ऐसा नहीं हो सकता था। इसलिये मार्ग कुछ भिन्न ही होना चाहिये।

तृष्णा किस तरह घटती है? लौकिक भावमें मान-बड़ाई त्याग दे तो। 'घर-कुटुम्ब आदिका मुझे करना ही क्या है? लोकमें चाहे जैसे हो, परन्तु मुझे तो मान-बड़ाईको छोड़कर चाहे किसी भी प्रकारसे, जिससे तृष्णा कम हो वैसा करना है'—ऐसा विचार करे तो तृष्णा घट जाय—मंद पड़ जाय।

तपका अभिमान कैसे घट सकता है? त्याग करनेका उपयोग रखनेसे। 'मुझे यह अभिमान क्यों होता है'—इस प्रकार रोज विचार करनेसे अभिमान मंद पड़ेगा।

ज्ञानी कहता है कि जीव यदि कुंजीरूपी ज्ञानका विचार करे तो अज्ञानरूपी ताला खुल जाय—कितने ही ताले खुल जाँय। यदि कुंजी हो तो ताला खुलता है, नहीं तो हथौड़ी मारनेसे तो ताला टूट ही जाता है।

'कल्याण न जाने क्या होगा' ऐसा जीवको वहम है। वह कुछ हाथी घोड़ा तो है नहीं। जीवको ऐसी ही भ्रान्तिके कारण कल्याणकी कुंजियाँ समझमें नहीं आती। समझमें आ जाँय तो सब सुगम है। जीवकी भ्रान्ति दूर करनेके लिये जगत्का वर्णन किया है। यदि जीव हमेशाके अंधमार्गसे थक जाय तो मार्गमें आ जाय।

ज्ञानी जो परमार्थ—सम्यक्त्व—हो उसे ही कहते है। "'कषाय घटे वही कल्याण है। जीवके राग, द्वेष, अज्ञान दूर हो जाँय तो उसे कल्याण कहा जाता है'—ऐसा तो लोग कहते हैं कि हमारे गुरु ही कहते हैं, तो फिर सत्पुरुष भिन्न ही क्या बताते हैं"? ऐसी उलटी-सीधी कल्पनायें करके जीवको अपने दोषोंको दूर करना नहीं है।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गई है। ज्ञानी ही आत्माको ऊँचा उठावेगा। आत्मा दब गई है इसलिये कल्याण सूझता नहीं। ज्ञानी जो सद्विचाररूपी सरल कुंजियोंको बताता है वे हजारों तालोंको लगती हैं।

जीवके भीतरसे अजीर्ण दूर हो जाय तो अमृत अच्छा लगे; उसी तरह भ्रांतिरूपी अजीर्णके दूर होनेपर ही कल्याण हो सकता है। परन्तु जीवको तो अज्ञानी गुरुने भड़का रक्खा है, फिर भ्रांतिरूप अजीर्ण दूर कैसे हो सकता है? अज्ञानी गुरु ज्ञानके बदले तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताते हैं—इस तरह उल्टा उल्टा बताते हैं, उससे जीवको पार होना बहुत कष्टसाध्य है। अहंकार आदिरहित भावसे तप आदि करना चाहिये।

कदाग्रह छोडकर जीव विचार करे तो मार्ग जुदा ही है। समकित सुलभ है, प्रत्यक्ष है, सरल है। जीव गाँवको छोड़कर दूर चला गया है, तो फिर जब वह पीछे फिरे तो गाँव आ सकता है। सत्पुरुषोंके वचनोका आस्थासहित श्रवण मनन करे तो सम्यक्त्व आता है। उसके उत्पन्न होनेके पश्चात् व्रत पच्चक्खाण आते हैं और तत्पश्चात् पाँचवाँ गुणस्थानक प्राप्त होता है।

सचाई समझमें आकर उसकी आस्था हो जाना ही सम्यक्त्व है। जिसे सच्चे-झूठेकी कीमत हो गई है—वह भेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

असद्गुरुसे सत् समझमें नहीं आता। दया, सत्य, विना दिया हुआ न लेना इत्यादि सदाचार सत्पुरुषके समीप आनेके सत् साधन है। सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्रके सिद्धान्तका परमार्थ है। हम अनुभवसे कहते हैं—अनुभवसे शका दूर करनेको कह सकते हैं। अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागजमें लिखा हुआ दीपक है।

ढूँढियापना अथवा तप्पापना किया करो, परन्तु उससे समकित होनेवाला नहीं। यदि वास्तविक सच्चा स्वरूप समझमें आ जाय—भीतरसे दशा बदल जाय, तो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। परमार्थमें प्रमाद अर्थात् आत्मामेंसे बाह्य वृत्ति। घातिकर्म उसे कहते हैं जो घात करे। परमाणु आत्मासे निरपेक्ष है, परमाणुको पक्षपात नहीं है, उसे जिस रूपसे परिणमावें वह उसी रूपसे परिणमता है।

निकाचित कर्ममें स्थितिबंध हो तो बराबर बंध होता है। स्थिति-काल न हो और विचार करे, पश्चात्तापसे ज्ञानका विचार करे, तो उसका नाश होता है। स्थिति-काल हो तो भोगनेपर छुटकारा होता है।

क्रोध आदिद्वारा जिन कर्मोका उपार्जन किया हो उनका भोगनेपर ही छुटकारा होता है। उदय आनेपर भोगना ही चाहिये। जो समता रक्खे उसे समताका फल होता है। सबको अपने अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पड़ते है।

ज्ञानी, स्त्रीत्वमें पुरुषत्वमें एक-समान है। ज्ञान आत्माका ही है।

---

६६० श्री नड़ियाद, आसोज वदी १ गुरु. १९५२

श्रीआत्मसिद्धिशास्त्र*

ॐ

श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत ।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्रीसद्गुरु भगवंत ॥ १ ॥

जिस आत्मस्वरूपके समझे बिना, भूतकालमें मैंने अनंत दुःख भोगे, उस स्वरूपको जिसने समझाया—अर्थात् भविष्यकालमें उत्पन्न होने योग्य जिन अनंत दुःखोंको मैं प्राप्त करता, उसका जिसने मूल ही नष्ट कर दिया—ऐसे श्रीसद्गुरु भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ।

वर्त्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप ।
विचारवा आत्मार्थिने, भाख्यो अत्र अगोप्य ॥ २ ॥

इस वर्तमानकालमें मोक्ष-मार्गका बहुत ही लोप हो गया है । उस मोक्षके मार्गको, आत्मार्थी जीवोंके विचारनेके लिये, हम यहाँ गुरु-शिष्यके संवादरूपमें स्पष्टरूपसे कहते हैं ।

कोई क्रियाजड थइ रह्या, शुष्कज्ञानमां कोइ ।
माने मारग मोक्षनो, करुणा उपजे जोइ ॥ ३ ॥

कोई तो क्रियामें लगे हुए हैं, और कोई शुष्क ज्ञानमें लगे हुए हैं, और इसी तरह वे मोक्ष-मार्गको भी मान रहे हैं—उन्हें देखकर दया आती है ।

बाह्य क्रियामां राचतां, अंतर्भेद न कांइ ।
ज्ञानमार्ग निषेधतां, तेह क्रियाजड आंहि ॥ ४ ॥

जो मात्र बाह्य क्रियामें ही रचे पड़े हैं, जिनके अंतरमें कोई भी भेद उत्पन्न नहीं हुआ, और जो ज्ञान-मार्गका निषेध किया करते हैं, उन्हें यहाँ क्रिया-जड़ कहा है ।

बंध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणीमांहि ।
वर्त्ते मोहावेशमां शुष्कज्ञानी ते आंहि ॥ ५ ॥

बंध और मोक्ष केवल कल्पना मात्र है—इस निश्चय वाक्यको जो केवल वाणीसे ही बोला करता है, और तथारूप दशा जिसकी हुई नहीं, और जो मोहके प्रभावमें ही रहता है, उसे यहाँ शुष्क-ज्ञानी कहा है।

---

* श्रीमद् राजचन्द्रने 'आत्मसिद्धि' की पद्य-बद्ध रचना श्री सोभाग्य, श्री अचल आदि मुमुक्षु, तथा भव्य जीवोंके हितके लिये की थी । यह निम्न पद्यसे विदित होता हैः—

श्री सोभाग्य अने श्री अचल, आदि मुमुक्षु काज ।
तथा भव्य हित कारणे, कह्यो बोध सुखकाज ॥

आत्मसिद्धिके इन पद्योंका संक्षिप्त विवेचन भाई अंबालाल लालचन्दने किया है, जो श्रीमद्की दृष्टिमें आ चुका है । तथा किसी किसी पद्यका जो विस्तृत विवेचन दिया है, वह स्वयं श्रीमद्का लिखा हुआ है, जिसे उन्होंने पत्रोंके रूपमें समय समयपर लिखा था । —अनुवादक.

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान ।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान ॥ ६ ॥

वैराग्य त्याग आदि, यदि साथमें आत्मज्ञान हो तो ही सफल हैं, अर्थात् तो ही वे मोक्षकी प्राप्तिके हेतु हैं; और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि उन्हें आत्मज्ञानके लिये ही किया जाता हो तो भी वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं ॥

वैराग्य, त्याग, दया आदि जो अंतरगकी क्रियायें है, उनकी साथ यदि आत्मज्ञान हो तो ही वे सफल हैं—अर्थात् तो ही वे भवके मूलका नाश करती हैं। अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं; अर्थात् जीवमें प्रथम इन गुणोंके आनेसे उसमें सद्गुरुका उपदेश प्रवेश करता है। उज्वल अंतःकरणके बिना सद्गुरुका उपदेश प्रवेश नहीं करता। इस कारण यह कहा है कि वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं।

यहाँ, जो जीव क्रिया-जड़ हैं, उन्हें ऐसा उपदेश किया है कि केवल कायाका रोकना ही कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्तिका कारण नहीं। यद्यपि वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं, इसलिये तुम उन क्रियाओंका अवगाहन तो करो; परन्तु उन क्रियाओंमें ही उलझे रहना योग्य नहीं है। क्योंकि आत्म-ज्ञानके बिना वे क्रियायें भी संसारके मूलका छेदन नहीं कर सकतीं। इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन वैराग्य आदि गुणोंमें प्रवृत्ति करो, और कायक्लेशमें—जिसमे कषाय आदिकी तथारूप कुछ भी क्षीणता नहीं—तुम मोक्ष-मार्गका दुराग्रह न रक्खो—यह उपदेश क्रिया-जड़को दिया है।

तथा जो शुष्क-ज्ञानी त्याग वैराग्य आदिरहित है—केवल वचन-ज्ञानी ही हैं—उन्हें ऐसा कहा गया है कि वैराग्य आदि जो साधन हैं, वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण ज़रूर बताये हैं; परन्तु कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं, और तुमने जब वैराग्य आदिको भी नहीं प्राप्त किया तो फिर आत्म-ज्ञान तो तुम कहाँसे प्राप्त कर सकते हो ? उसका ज़रा आत्मामें विचार तो करो। संसारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, भोगमें अनासक्ति, तथा मान आदिकी कृशता इत्यादि गुणोंके बिना तो आत्मज्ञान फलीभूत होता ही नहीं, और आत्मज्ञान प्राप्त करने लेनेपर तो वे गुण अत्यंत दृढ़ हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें आत्मज्ञानरूप जो मूल है वह प्राप्त हो गया है। तथा उसके बदले तो तुम ऐसा मान रहे हो कि तुम्हें आत्मज्ञान है; परन्तु आत्मामें तो भोग आदि कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा सत्कार आदिकी कामना बारंबार स्फुरित होती है, थोड़ीसी असातासे ही बहुत आकुलता व्याकुलता हो जाती है। फिर यह क्यों लक्षमें आता नहीं कि ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं हैं। 'मैं केवल मान आदिकी कामनासे ही अपनेको आत्मज्ञानी कहलवाता हूँ'—यह जो तुम्हारी समझमें नहीं आता उसे समझो; और प्रथम तो वैराग्य आदि साधनोंको आत्मामें उत्पन्न करो, जिससे आत्मज्ञानकी सन्मुखता हो सके।

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥ ७ ॥

जिसके चित्तमें त्याग-वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान नहीं होता; और जो त्याग-वैराग्यमें ही उलझा रहकर आत्मज्ञानकी आकांक्षा नहीं रखता वह अपना भान भूल जाता है—

अर्थात् वह अज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य आदि होनेसे, पूजा-सत्कार आदिसे पराभव पाकर आत्मार्थको ही भूल जाता है ॥

जिसके अंतःकरणमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे जीवको आत्मज्ञान नहीं होता। क्योंकि जैसे मलिन अंतःकरणरूप दर्पणमें आत्मोपदेशका प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव नहीं, उसी तरह केवल त्याग-वैराग्यमें रचा-पचा रहकर जो कृतार्थता मानता है, वह भी अपनी आत्माका भान भूल जाता है। अर्थात् आत्मज्ञान न होनेसे उसे अज्ञानका साहचर्य रहता है, इस कारण उस त्याग-वैराग्य आदिका मान उत्पन्न करनेके लिए, और उस मानके लिये ही, उसकी सर्व संयम आदिकी प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे संसारका उच्छेद नहीं होता। वह केवल उसीमें उलझ जाता है; अर्थात् वह आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करता।

इस तरह क्रिया-जड़को साधन—क्रिया—और उस साधनकी जिससे सफलता हो, ऐसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है, और शुष्क-ज्ञानीको त्याग-वैराग्य आदि साधनका उपदेश करके केवल वचन-ज्ञानमें कल्याण नहीं, ऐसी प्रेरणा की है।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥ ८ ॥

जहाँ जहाँ जो योग्य है, वहाँ वहाँ उसे समझे और वहाँ वहाँ उसका आचरण करे, यह आत्मार्थी पुरुषका लक्षण है ॥

जिस जगह जो योग्य है अर्थात् जहाँ त्याग-वैराग्य आदि योग्य हों, वहाँ जो त्याग-वैराग्य आदि समझता है, और जहाँ आत्मज्ञान योग्य हो वहाँ आत्मज्ञान समझता है—इस तरह जो जहाँ योग्य है उसे वहाँ समझता है, और वहाँ तदनुसार प्रवृत्ति करता है—वह आत्मार्थी जीव है। अर्थात् जो कोई मतार्थी अथवा मानार्थी होता है, वह योग्य मार्गको ग्रहण नहीं करता। अथवा क्रियामें ही जिसे दुराग्रह हो गया है, अथवा शुष्क ज्ञानके अभिमानमें ही जिसने ज्ञानीपना मान लिया है, वह त्याग-वैराग्य आदि साधनको अथवा आत्मज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता।

जो आत्मार्थी होता है, वह जहाँ जहाँ जो जो करना योग्य है, उस सबको करता है, और जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस सबको समझता है। अथवा जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है, जो उस सबको समझता है, और जहाँ जो जो आचरण करना योग्य है, उस सबका आचरण करता है—वह आत्मार्थी कहा जाता है।

यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य पद हैं। परन्तु यहाँ दोनोंको अलग अलग कहनेका यह भी आशय है कि जो जो जहाँ जहाँ समझना योग्य है उस सबको समझनेकी, और जो जो जहाँ आचरण करना योग्य है उस सबको वहाँ आचरण करनेकी जिसकी कामना है—वह भी आत्मार्थी कहा जाता है।

सेवे सद्गुरु चरणने, त्यागी दई निजपक्ष।
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥ ९ ॥

अपने पक्षको छोड़कर जो सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और उसे आत्मस्वरूपका लक्ष होता है ॥

आशंका:—बहुतसोंको क्रिया-जड़ता रहती है और बहुतसोंको शुष्क-ज्ञानीपना रहता है, उसका क्या कारण होना चाहिये ?

समाधान:—जो अपने पक्ष अर्थात् मतको छोड़कर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह पदार्थको प्राप्त करता है, और निजपदका अर्थात् आत्म-स्वभावका लक्ष ग्रहण करता है। अर्थात् बहुतसोंको जो क्रिया-जड़ता रहती है, उसका हेतु यही है कि उन्होंने, जो आत्मज्ञान और आत्मज्ञानके साधनको नहीं जानता, ऐसे असद्गुरुका आश्रय ले रक्खा है। इससे वह असद्गुरु उन्हें, वह अपने जो मात्र क्रिया-जड़ताके अर्थात् कायक्लेशके मार्गको जानता है, उसीमें लगा लेता है, और कुल-धर्मको दृढ़ कराता है। इस कारण उन्हें सद्गुरुके योगके मिलनेकी आकांक्षा भी नहीं होती, अथवा वैसा योग मिलनेपर भी उन्हें पक्षकी दृढ़ वासना सदुपदेशके सन्मुख नहीं होने देती; इसलिये क्रिया-जड़ता दूर नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति भी नहीं होती।

तथा जो शुष्क-ज्ञानी है, उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नहीं किया; और केवल अपनी मतिकी कल्पनासे ही स्वच्छंदरूपसे अध्यात्मके ग्रन्थ पढ़ लिये हैं। अथवा किसी शुष्क-ज्ञानीके पाससे वैसे ग्रन्थ अथवा वचनोंको सुनकर अपनेमें ज्ञानीपना मान लिया है; और ज्ञानी मनवानेके पदका जो एक प्रकारका मान है, उसमें उसे मिठास रहती आई है, और यह उसका पक्ष ही हो गया है। अथवा किसी विशेष कारणसे शास्त्रोंमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी जो समानता कही है, उन वचनोंको, उसका परमार्थ समझे बिना ही, हाथमें लेकर, केवल अपनेको ज्ञानी मनवानेके लिये, और पामर जीवोंके तिरस्कारके लिये, वह उन वचनोंका उपयोग करता है। परन्तु उन वचनोंको किस लक्षसे समझनेसे परमार्थ होता है, यह नहीं जानता। तथा जैसे दया, दान आदिकी शास्त्रोंमें निष्फलता कही है, उसी तरह नवपूर्वतक पढ़ लेनेपर भी वे निष्फल चले गये—इस तरह ज्ञानकी भी निष्फलता कही है—और वह तो शुष्क-ज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका लक्ष होता नहीं। क्योंकि वह अपनेको ज्ञानी मानता है इसलिये उसकी आत्मा मूढ़ताको प्राप्त हो गई है, इस कारण उसे विचारका अवकाश ही नहीं रहा। इस तरह क्रिया-जड़ अथवा शुष्क-ज्ञानी दोनों ही भूले हुए हैं, और वे परमार्थ पानेकी इच्छा रखते हैं; अथवा वे कहते हैं कि हमने परमार्थ पा लिया है। यह केवल उनका दुराग्रह है—यह प्रत्यक्ष मालूम होता है।

यदि सद्गुरुके चरणका सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमें पड़ जानेका समय न आता, जीव आत्म-साधनमें प्रेरित होता, तथारूप साधनसे परमार्थकी प्राप्ति करता, और निजपदके लक्षको ग्रहण करता, अर्थात् उसकी वृत्ति आत्माके सन्मुख हो जाती।

तथा जगह जगह एकाकीरूपसे विचरनेका जो निषेध है, और सद्गुरुकी ही सेवामें विचरनेका जो उपदेश किया है, इससे भी यही समझमें आता है कि वही जीवको हितकारी और मुख्य मार्ग है। तथा असद्गुरुसे भी कल्याण होता है, ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी—ज्ञानीकी—आसातना करनेके ही समान है। क्योंकि फिर तो उनमें और असद्गुरुमें कोई भी भेद नहीं रहा—फिर तो जन्मांधमें और अत्यंत शुद्ध निर्मल चक्षुवालेमें कुछ न्यूनाधिकता ही न ठहरी। तथा श्रीठाणांगसूत्रकी चौभंगी ग्रहण करके कोई ऐसा कहे कि 'अभव्यका पार किया हुआ भी पार हो जाता है,' तो वह वचन भी 'वदतो व्याघात' जैसा ही है। क्योंकि पहिले तो मूलमें ठाणांगमें वह पाठ ही नहीं; और जो पाठ है वह

इस तरह है........ . । उसका शब्दार्थ इस प्रकार है ..... . । उसका विशेषार्थ टीकाकारने इस तरह किया है .... । उसमें किसी भी जगह यह नहीं कहा कि अभव्यका पार किया हुआ पार होता है, और किसी टव्वामें किसीने जो यह वचन लिखा है, वह उसकी समझकी अयथार्थता ही मालूम होती है।

कदाचित् कोई इसका यह अर्थ करे कि ' जो अभव्य कहता है वह यथार्थ नहीं है—ऐसा भासित होनेके कारण यथार्थ लक्ष होनेसे जीव स्व-विचारको प्राप्त कर पार हो जाता है, ' तो वह किसी तरह सभव है । परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि। अभव्यका पार किया हुआ पार हो जाता है । यह विचारकर जिस मार्गसे अनत जीव पार हुए हैं, पार होते हैं और पार होंगे, उस मार्गका अवगाहन करना, और स्वकल्पित अर्थका मान आदिकी रक्षा छोड़कर त्याग करना ही श्रेयस्कर है। यदि तुम ऐसा कहो कि जीव अभव्यसे पार होता है, तो इससे तो अवश्य निश्चय होता है कि असद्गुरु ही पार करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

तथा अशोच्या-केवलीको, जिन्होंने पूर्वमें किसीसे धर्म नहीं सुना, किसी तथारूप आवरणके क्षय होनेसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा जो शास्त्रमें निरूपण किया है, वह आत्माके माहात्म्यको बतानेके लिये, और जिसे सद्गुरुका योग न हो उसे जाग्रत करनेके लिये और उस उस अनेकात मार्गका निरूपण करनेके लिये ही प्रदर्शित किया है। उसे कुछ सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करनेके मार्गको उपेक्षित करनेके लिये प्रदर्शित नहीं किया । तथा यहाँ तो उल्टे उस मार्गके ऊपर दृष्टि आनेके लिये ही उसे अधिक मजबूत किया है। किन्तु अशोच्या-केवली .. .... अर्थात् अशोच्या-केवलीके इस प्रसंगको सुनकर किसीसे जो शाश्वत मार्ग चला आता है, उसका निषेध करनेका यहाँ आशय नहीं, ऐसा समझना चाहिये ।

किसी तीव्र आत्मार्थीको कदाचित् ऐसे सद्गुरुका योग न मिला हो, और उसे अपनी तीव्र कामना कामनामें ही निज-विचारमें पड़ जानेसे, अथवा तीव्र आत्मार्थके कारण निज-विचारमें पड़ जानेसे आत्मज्ञान हो गया हो तो सद्गुरुके मार्गकी उपेक्षा न कर, और ' मुझे सद्गुरुसे ज्ञान नहीं मिला, इसलिये मैं बड़ा हूँ, ' ऐसा भाव न रख, विचारवान जीवको जिससे शाश्वत मोक्षमार्गका लोप न हो, ऐसे वचन प्रकाशित करने चाहिये ।

एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाना हो और जिसने उस गाँवका मार्ग न देखा हो, ऐसे किसी पचास बरसके पुरुषको भी—यद्यपि वह लाखों गाँव देख आया हो—उस मार्गकी खबर नहीं पडती। किसीसे पूँछनेपर ही उसे उस मार्गकी खबर पड़ती है, नहीं तो वह भूल खा जाता है, और यदि उस मार्गका जाननेवाला कोई दस बरसका बालक भी उसे उस मार्गको दिखा दे तो उससे वह इष्ट स्थानपर पहुँच सकता है—यह बात लौकिक व्यवहारमें भी प्रत्यक्ष है। इसलिये जो आत्मार्थी हो, अथवा जिसे आत्मार्थकी इच्छा हो उसे, सद्गुरुके योगसे पार होनेके अभिलाषी जीवका जिससे कल्याण हो, उस मार्गका लोप करना योग्य नहीं । क्योंकि उससे सर्व ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा लोप करने जैसा ही होता है।

आशका:—' पूर्वमें सद्गुरुका योग तो अनेक बार हुआ है, फिर भी जीवका कल्याण नहीं

हुआ। इससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती।' इसका उत्तर दूसरे पदमें कहा है।

उत्तरः—जो अपने पक्षको त्यागकर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थ प्राप्त करता है। अर्थात् पूर्वमें सद्गुरुके योग होनेकी तो बात सत्य है, परन्तु वहाँ जीवने उस सद्गुरुको जाना ही नहीं, उसे पहिचाना ही नहीं, उसकी प्रतीति ही नहीं की, और उसके पास अपना मान और मत छोड़ा ही नहीं, और इस कारण उसे सद्गुरुका उपदेश लगा नहीं, और परमार्थकी प्राप्ति हुई नहीं। जीव इस तरह यदि अपने मत अर्थात् स्वच्छंद और कुलधर्मका आग्रह दूर कर सदुपदेशके ग्रहण करनेका अभिलाषी हुआ होता तो अवश्य ही परमार्थको पा जाता।

आशंकाः—यहाँ असद्गुरुसे दृढ कराये हुए दुर्बोधसे अथवा मान आदिकी तीव्र कामनासे यह भी आशका हो सकती है कि ' कितने ही जीवोंका पूर्वमें कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना ही कल्याणकी प्राप्ति हो गई है। अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति होती है। असद्गुरुको भले ही स्वयं मार्गकी प्रतीति न हो, परन्तु वह दूसरेको उसे प्राप्त करा सकता है। अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो परमार्थको पा सकता है। इसलिए सदगुरुके चरणकी सेवा किये बिना भी परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है'।

उत्तरः—यद्यपि कोई जीव स्वयं विचार करते हुए बोधको प्राप्त हुए हैं—ऐसा शास्त्रमें प्रसंग आता है, परन्तु कहीं ऐसा प्रसंग नहीं आता कि अमुक जीवने असद्गुरुसे बोध प्राप्त किया है। अब, किसीने स्वयं विचार करते हुए बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, उसमें शास्त्रोंके कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि 'सद्गुरुकी आज्ञासे चलनेसे जीवका कल्याण होता है, ऐसा हमने जो कहा है वह बात यथार्थ नहीं,' अथवा सद्गुरुकी आज्ञाका जीवको कोई भी कारण नहीं है, यह कहनेके लिये भी वैसा नहीं कहा। तथा जीवोंने अपने विचारसे स्वयं ही बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, सो उन्होंने भी यद्यपि वर्तमान देहमें अपने विचारसे अथवा बोधसे ही ज्ञान प्राप्त किया है; परन्तु पूर्वमें वह विचार अथवा बोध सद्गुरुने ही उनके सन्मुख किया है, और उसीसे वर्तमानमें उसका स्फुरित होना संभव है। तथा तीर्थंकर आदिको जो स्वयंबुद्ध कहा है, सो उन्होंने भी पूर्वमें तीसरे भवमें सद्गुरुसे ही निश्चय समकित प्राप्त किया है, ऐसा बताया है। अर्थात् जो स्वयंबुद्धपना कहा है वह वर्तमान देहकी अपेक्षासे ही कहा है, उस सद्गुरुके पदका निषेध करनेके लिये उसे नहीं कहा। और यदि सद्गुरु-पदका निषेध करें तो फिर तो 'सदेव, सद्गुरु और सद्धर्मकी प्रतितिके बिना समकित नहीं होता' यह जो बताया है, वह केवल कथनमात्र ही हुआ।

अथवा जिस शास्त्रको तुम प्रमाण कहते हो, वह शास्त्र सद्गुरु जिनभगवान्का कहा हुआ है, इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये? अथवा वह किसी असद्गुरुका कहा हुआ है इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये? यदि असद्गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमें बाधा न हो तो फिर अज्ञान और राग-द्वेषके सेवन करनेसे भी मोक्ष हो सकती है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं—यह विचारणीय है।

आचारांगसूत्रमें कहा है:—

प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशका यह प्रथम वाक्य है .... । क्या यह जीव पूर्वसे आया है, पश्चिमसे आया है, उत्तरसे आया है, दक्षिणसे आया है, ऊँचेसे आया है, या नीचेसे आया है, अथवा किसी दूसरी ही दिशासे आया है? जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है, जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है । इसके जाननेके निम्न तीन कारण है.—

(१) तीर्थंकरका उपदेश,

(२) सद्गुरुका उपदेश,

और (३) जातिस्मरण ज्ञान ।

यहाँ जो जातिस्मरण ज्ञान कहा है वह भी पूर्वके उपदेशके संयोगसे ही कहा है, अर्थात् पूर्वमें उसे बोध होनेमें सद्गुरुकी असंभावना मानना योग्य नहीं । तथा जगह जगह जिनागममें ऐसा कहा है:—

गुरुणो छंदाणुं वत्ते—गुरुकी आज्ञानुसार चलना चाहिये ।

गुरुकी आज्ञानुसार चलनेसे अनंत जीव सिद्ध हो गये हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे । तथा किसी जीवने जो अपने विचारसे बोध प्राप्त किया है, उसमें भी प्रायः पूर्वमें सद्गुरुका उपदेश ही कारण होता है । परन्तु कदाचित् जहाँ वैसा न हो वहाँ भी उस सद्गुरुका नित्य अभिलाषी रहते हुए, सद्विचारमें प्रेरित होते हुए ही, उसने स्वविचारसे आत्मज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा कहना चाहिये । अथवा उसे किसी सद्गुरुकी उपेक्षा नहीं है, और जहाँ सद्गुरुकी उपेक्षा रहती है, वहाँ मान होना संभव है; और जहाँ सद्गुरुके प्रति मान हो वहीं कल्याण होना कहा है, अर्थात् उसे सद्विचारके प्रेरित करनेका आत्मगुण कहा है ।

उस तरहका मान आत्मगुणका अवश्य घातक है । बाहुबलिजीमें अनेक गुण विद्यमान होते हुए भी 'अपनेसे छोटे अट्ठानवे भाईयोंको वंदन करनेमें अपनी लघुता होगी, इसलिये यहीं ध्यानमें स्थित हो जाना ठीक है'—ऐसा सोचकर एक वर्षतक निराहाररूपसे अनेक गुणसमुदायसे वे ध्यानमें अवस्थित रहे, तो भी उन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ । बाकी दूसरी हरेक प्रकारकी योग्यता होनेपर भी एक इस मानके ही कारण ही वह ज्ञान रुका हुआ था । जिस समय श्रीऋषभदेवसे प्रेरित ब्राह्मी और सुंदरी सतियोंने उन्हें उस दोषको निवेदन किया और उन्हें उस दोषका भान हुआ, तथा उस दोषकी उपेक्षा कर उन्होंने उसकी असारता समझी, उसी समय उन्हें केवलज्ञान हो गया । वह मान ही यहाँ चार घनघाती कर्मोंका मूल हो रहा था । तथा बारह बारह महीनेतक निराहाररूपसे, एक लक्षसे, एक आसनसे, आत्मविचारमें रहनेवाले ऐसे पुरुषको इतनेसे मानने उस तरहकी बारह महीनेकी दशाको सफल न होने दिया, अर्थात् उस दशासे भी मान समझमें न आया; और जब सद्गुरु श्रीऋषभदेवने सूचना की कि 'वह मान है', तो वह मान एक मुहूर्तमें ही नष्ट हो गया । यह भी सद्गुरुका ही माहात्म्य बताया है ।

तथा सम्पूर्ण मार्ग ज्ञानीकी ही आज्ञामें समाविष्ट हो जाता है, ऐसा बारंबार कहा है । आचारांगसूत्रमें कहा है कि . . .. । सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीको उपदेश करते हैं कि समस्त जगत्का जिसने दर्शन किया है, ऐसे महावीरभगवान्ने हमें इस तरह कहा है । गुरुके आधीन होकर चलनेवाले ऐसे अनन्त पुरुष मार्ग पाकर मोक्ष चले गये है ।

उत्तराध्ययन, सूयगडांग आदि में जगह जगह यही कहा है ।

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञानमे जिनकी स्थिति है, अर्थात् परभावकी इच्छासे जो रहित हो गये हैं; तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावके प्रति जिन्हें समता रहती है; केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियाये हैं; जिनकी वाणी अज्ञानीसे प्रत्यक्ष भिन्न है; और जो षट्दर्शनके तात्पर्यको जानते हैं—वे उत्तम सद्गुरु हैं ॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित विचरे पूर्वप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिति है, विषय और मान पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मके उदयसे ही जो विचरता है, अपूर्व जिसकी वाणी है—अर्थात् जिसका उपदेश निज अनुभवसहित होनेके कारण अज्ञानीकी वाणीकी अपेक्षा भिन्न पड़ता है—और परमश्रुत अर्थात् षट्दर्शनका यथारूपसे जो जानकार है—वह योग्य सद्गुरु है।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' जो यह प्रथम पद कहा, उससे ज्ञान-दशा कही है। तथा जो 'इच्छारहितपना' कहा, उससे चारित्रदशा कही है। 'जो इच्छारहित होता है वह किस तरह विचर सकता है'? इस आशंकाकी यह कहकर निवृत्ति की है कि वह पूर्वप्रयोग अर्थात् पूर्वके बधे हुए प्रारब्धसे विचरता है— विचरण आदिकी उसे कामना बाकी नहीं है। 'अपूर्व वाणी' कहनेसे वचनातिशयता कही है, क्योंकि उसके बिना मुमुक्षुका उपकार नहीं होता। 'परमश्रुत' कहनेसे उसे षट्दर्शनके अविरुद्ध दशाका जानकार कहा है, इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता दिखाई है।

आशंकाः—वर्तमानकालमें स्वरूपस्थित पुरुष नहीं होता इसलिये जो स्वरूपस्थित विशेषणयुक्त सद्गुरु कहा है वह आजकल होना संभव नहीं।

समाधानः—वर्तमानकालमें कदाचित् ऐसा कहा हो ता उसका अर्थ यह हो सकता है कि 'केवल-भूमिका'के सबधमें ऐसी स्थिति असंभव है; परन्तु उससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आत्म-ज्ञान ही नहीं होता, और जो आत्मज्ञान है वही स्वरूपस्थिति है।

आशंकाः—आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमें भी मुक्ति होनी चाहिये, और जिनागममें तो इसका निषेध किया है।

समाधानः—इस वचनको कदाचित् एकांतसे इसी तरह मान भी लें तो भी उससे एकावतारी-पनेका निषेध नहीं होता, और एकावतारीपना आत्मज्ञानके बिना प्राप्त होता नहीं।

आशंकाः—त्याग-वैराग्य आदिकी उत्कृष्टतासे ही उसका एकावतारीपना कहा होगा।

समाधानः—परमार्थसे उत्कृष्ट त्याग-वैराग्यके बिना एकावतारीपना होता ही नहीं, यह सिद्धात है; और वर्तमानमें भी चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानका कुछ भी निषेध नहीं, और चौथे गुणस्थानसे ही आत्मज्ञान सभव है। पाँचवेंमें विशेष स्वरूपस्थिति होती है, छट्ठेमें बहुत अशसे स्वरूपस्थिति होती

है, वहाँ पूर्वप्रेरित प्रमादके उदयसे कुछ थोड़ीसी ही प्रमाद-दशा आ जाती है, परन्तु वह आत्मज्ञानकी रोधक नहीं, चारित्रकी ही रोधक है।

आशंकाः—यहाँ तो 'स्वरूपस्थित' पदका प्रयोग किया है, और स्वरूपस्थिति तो तेरहवें गुणस्थानमें ही संभव है।

समाधानः—स्वरूपस्थितिकी पराकाष्ठा तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है, क्योंकि नाम गोत्र आदि चार कर्मोंका वहाँ नाश हो जाता है। परन्तु उसके पहिले केवलीके चार कर्मोंका संग रहता है, इस कारण सम्पूर्ण स्वरूपस्थिति तेरहवें गुणस्थानमें भी कही जाती है।

आशंकाः—वहाँ नाम आदि कर्मोंके कारण अव्याबाध स्वरूपस्थितिका निषेध करें तो वह ठीक है। परन्तु स्वरूपस्थिति तो केवलज्ञानरूप है, इस कारण वहाँ स्वरूपस्थिति कहनेमें दोष नहीं है; और यहाँ तो वह है नहीं, इसलिये यहाँ स्वरूपस्थिति कैसे कही जा सकती है?

समाधानः—केवलज्ञानमें स्वरूपस्थितिका विशेष तारतम्य है, और चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमें वह उससे अल्प है—ऐसा कहा जाता है; परन्तु वहाँ स्वरूपस्थिति ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्वरहित दशा होनेसे आत्मस्वभावका आविर्भाव है और स्वरूपस्थिति है। पाँचवें गुणस्थानकमें एकदेशसे चारित्र-घातक कषायोंके निरोध हो जानेसे, चौथेकी अपेक्षा आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है, और छट्ठेमें कषायोंके विशेष निरोध होनेसे सर्व चारित्रका उदय है, उससे वहाँ आत्मस्वभावका और भी विशेष आविर्भाव है। केवल इतनी ही बात है कि छट्ठे गुणस्थानमें पूर्व निबंधित कर्मके उदयसे क्वचित् प्रमत्त दशा रहती है, इस कारण वहाँ 'प्रमत्त सर्वचारित्र' कहा जाता है। परन्तु उसका स्वरूपस्थितिसे विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँ आत्मस्वभावका बाहुल्यतासे आविर्भाव है। तथा आगम भी ऐसा कहता है कि चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानतक आत्मप्रतीति समान ही है—वहाँ केवल ज्ञानके तारतम्यका ही भेद है।

यदि चौथे गुणस्थानमें अंशसे भी स्वरूपस्थिति न हो तो फिर मिथ्यात्व नाश होनेका फल ही क्या हुआ? अर्थात् कुछ भी नहीं हुआ। जो मिथ्यात्व नष्ट हो गया वही आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और वही स्वरूपस्थिति है। यदि सम्यक्त्वसे उस रूप स्वरूपस्थिति न होती, तो श्रेणिक आदिको एकावतारीपना कैसे प्राप्त होता? वहाँ एक भी व्रत—पञ्चक्खाणतक भी नहीं था, और वहाँ भव तो केवल एक ही बाकी रहा—ऐसा जो अल्प संसारीपना हुआ वही स्वरूपस्थितिरूप समकितका बल है। पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानमें चारित्रका विशेष बल है, और मुख्यतासे उपदेशक-गुणस्थान तो छट्ठा और तेरहवाँ हैं। बाकीके गुणस्थान उपदेशककी प्रवृत्ति कर सकने योग्य नहीं हैं, अर्थात् तेरहवें और छट्ठे गुणस्थानमें ही वह स्वरूप रहता है।

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार॥ ११॥

जबतक जीवको पूर्वकालीन जिनतीर्थंकरोंकी बातपर ही लक्ष रहा करता है, और वह उनके ही उपकारको गाया करता है, और जिससे प्रत्यक्ष आत्म-भ्रांतिका समाधान हो सके, ऐसे सद्गुरुका

समागम मिलनेपर भी, 'उसमें परोक्ष जिनभगवान्‌के वचनोंकी अपेक्षा भी महान् उपकार समाया हुआ है,' इस बातको नहीं समझता, तबतक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता।

सद्गुरुना उपदेशवण, समजाय न जिनरूप।
समज्यावण उपकार शो? समज्ये जिनस्वरूप॥ १२॥

सद्गुरुके उपदेशके बिना जिनका स्वरूप समझमें नहीं आता, और उस स्वरूपके समझमें आये बिना उपकार भी क्या हो सकता है? यदि जीव सद्गुरुके उपदेशसे जिनका स्वरूप समझ जाय तो समझनेवालेकी आत्मा अन्तमें जिनकी दशाको ही प्राप्त करे॥

सद्गुरुना उपदेशथी, समजे जिननुं रूप।
तो ते पामे निजदशा, जिन छे आत्मस्वरूप।
पाम्या शुद्धस्वभावने, छे जिन तेथी पूज्य।
समजो जिनस्वभाव तो, आत्मभावनो गुज्य॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो जिनका स्वरूप समझ जाता है, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि शुद्ध आत्मभाव ही जिनका स्वरूप है। अथवा राग द्वेष और अज्ञान जो जिनभगवान्‌में नहीं, वही शुद्ध आत्मपद है, और वह पद तो सत्तासे सब जीवोंको मौजूद है। वह सद्गुरु-जिनके अवलम्बनसे और जिनभगवान्‌के स्वरूपके कथनसे मुमुक्षु जीवको समझमें आता है।

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्गुरुयोग नहीं, त्यां आधार सुपात्र॥ १३॥

जो जिनागम आदि आत्माके अस्तित्वके तथा परलोक आदिके अस्तित्वके उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं वे भी, जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहीं सुपात्र जीवको आधाररूप हैं, परन्तु उन्हे सद्गुरुके समान भ्राति दूर करनेवाला नहीं कहा जा सकता।

अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज॥ १४॥

अथवा यदि सद्गुरुने उन शास्त्रोंके विचारनेकी आज्ञा दी हो, तो उन शास्त्रोंको, मतातर अर्थात् कुलधर्मके सार्थक करनेके हेतु आदि भ्रान्तिको छोड़कर, केवल आत्मार्थके लिये ही नित्य विचारना चाहिये।

रोके जीव स्वछंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष॥ १५॥

जीव अनादिकालसे जो अपनी चतुराईसे और अपनी इच्छासे चलता आ रहा है, इसका नाम स्वच्छंद है। यदि वह इस स्वच्छंदको रोके, तो वह जरूर मोक्षको पा जाय; और इस तरह भूतकालमें अनंत जीवोंने मोक्ष पाया है—ऐसा राग द्वेष और अज्ञानमेंसे जिनके एक भी दोष नहीं, ऐसे निर्दोष वीतरागने कहा है।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगथी, स्वछंद ते रोकाय ।
अन्य उपाय कर्या थकी, माये वमणो थाय ॥ १६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगसे वह स्वच्छंद रुक जाता है; नहीं तो अपनी इच्छासे दूसरे अनेक उपाय करनेपर भी प्रायः करके वह दुगुना ही होता है ।

स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष ।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥ १७ ॥

स्वछंद तथा अपने मतके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके लक्षसे चलना है, उसे समकितका प्रत्यक्ष कारण समझकर वीतरागने 'समकित' कहा है ।

मानादिक शत्रु महा, निजछंदे न मराय ।
जातां सद्गुरुशरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥ १८ ॥

मान और पूजा-सत्कार आदिका लोभ इत्यादि जो महाशत्रु हैं, वे अपनी चतुराईसे चलनेसे नाश नहीं होते, और सद्गुरुकी शरणमें जानेसे वे थोड़ेसे प्रयत्नसे ही नाश हो जाते हैं ।

जे सद्गुरुउपदेशथी, पाम्यो केवळज्ञान ।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान ॥ १९ ॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे जिसने केवलज्ञानको प्राप्त किया हो, और वह सद्गुरु अभी छद्मस्थ ही हो, तो भी जिसने केवलज्ञान लिया है, ऐसे केवली भगवान् भी अपने छद्मस्थ सद्गुरुका वैयावृत्य करते हैं ।

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्रीवीतराग ।
मूळ हेतु ए मार्गनो, समझे कोई सुभाग्य ॥ २० ॥

इस तरह श्रीजिनभगवान्ने विनयके मार्गका उपदेश दिया है। इस मार्गका जो मूल हेतु है—अर्थात् उससे आत्माका क्या उपकार होता है—उसे कोई ही भाग्यशाली अर्थात् सुलभ-बोधी अथवा आराधक जीव ही समझ पाता है ।

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांइ ।
महामोहिनी कर्मथी, बूडे भवजल मांहि ॥ २१ ॥

यह जो विनय-मार्ग कहा है, उसे शिष्य आदिसे करानेकी इच्छासे, जो कोई भी असद्गुरु अपनेमें सद्गुरुकी स्थापना करता है, वह महामोहनीय कर्मका उपार्जन कर भवसमुद्रमें डूबता है ।

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार ।
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥ २२ ॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है वह तो इस विनय-मार्ग आदिके विचारको समझ लेता है, किन्तु जो मतार्थी होता है वह उसका उल्टा ही निश्चय करता है। अर्थात् या तो वह स्वयं उस विनयको किसी शिष्य आदिसे कराता है, अथवा असद्गुरुमें सद्गुरुकी भ्रांति रख स्वयं इस विनय-मार्गका उपयोग करता है ।

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष ।
तेह मतार्थिलक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥ २३ ॥

जो मतार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका लक्ष नहीं होता। ऐसे मतार्थी जीवके यहाँ निष्पक्ष होकर लक्षण कहते है ।

मतार्थीके लक्षणः—

बाह्य त्याग पण ज्ञान नहीं, ते माने गुरु सत्य ।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥ २४ ॥

जो केवल बाह्यसे ही त्यागी दिखाई देता है, परन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं, और उपलक्षणसे जिसे अंतरग त्याग भी नहीं है, ऐसे गुरुको जो सद्गुरु मानता है, अथवा अपने कुलधर्मका चाहे कैसा भी गुरु हो, उसमें ममत्व रखता है—वह मतार्थी है ।

जे जिनदेहप्रमाणने, समवसरणादि सिद्धि ।
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निजबुद्धि ॥ २५ ॥

जिनभगवान्‌की देह आदिका जो वर्णन है, जो उसे ही जिनका वर्णन समझता है; और वे अपने कुलधर्मके देव हैं, इसलिये अहंभावके कल्पित रागसे जो उनके समवसरण आदि माहात्म्यको ही गाया करता है, और उसीमें अपनी बुद्धिको रोके रहता है–अर्थात् परमार्थ-हेतुस्वरूप ऐसे जिनका जो जानने योग्य अंतरग स्वरूप है उसे जो नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न भी नहीं करता, और केवल समवसरण आदिमें ही जिनका स्वरूप बताकर मतार्थमें ग्रस्त रहता है—वह मतार्थी है ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां वर्त्ते दृष्टि विमुख ।
असद्गुरुने दृढ करे, निजमानार्थे मुख्य ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुका कभी योग मिले भी तो दुराग्रह आदिके नाश करनेवाली उनकी वाणी सुनकर, जो उससे उल्टा ही चलता है, अर्थात् उस हितकारी वाणीको जो ग्रहण नहीं करता, और 'वह स्वयं सच्चा दृढ मुमुक्षु है,' इस मानको मुख्यरूपसे प्राप्त करनेके लिये ही असद्गुरुके पास जाकर, जो स्वयं उसके प्रति अपनी विशेष दृढ़ता बताता है—वह मतार्थी है ।

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निज मतवेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥ २७ ॥

देव नरक आदि गतिके 'भग' आदिका जो स्वरूप किसी विशेष परमार्थके हेतुसे कहा है, उस हेतुको जिसने नहीं जाना, और उस भंगजालको ही जो श्रुतज्ञान समझता है; तथा अपने मतका—वेषका—आग्रह रखनेको ही मुक्तिका कारण मानता है—वह मतार्थी है ।

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने लेवा लौकिक मान ॥ २८ ॥

वृत्तिका स्वरूप क्या है ? उसे भी जो नहीं जानता, और 'मैं व्रतधारी हूँ' ऐसा अभिमान जिसने धारण कर रक्खा है । तथा यदि कभी परमार्थके उपदेशका योग बने भी, तो 'लोकमें जो अपना मान और पूजा सत्कार आदि है वह चला जायगा, अथवा वे मान आदि फिर पीछेसे प्राप्त न होंगे'—ऐसा समझकर, जो परमार्थको ग्रहण नहीं करता—वह मतार्थी है ।

अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्व्यवहारने, साधनरहित थाय ॥ २९ ॥

अथवा समयसार या योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थोंको बाँचकर जो केवल निश्चयनयको ही ग्रहण करता है । किस तरह ग्रहण करता है ? मात्र कथनरूपसे ग्रहण करता है । परन्तु जिसके अंतरंगमें तथारूप गुणकी कुछ भी स्पर्शना नहीं, और जो सद्गुरु, सत्शास्त्र तथा वैराग्य, विवेक आदि सद्व्यवहारका लोप करता है, तथा अपने आपको ज्ञानी मानकर जो साधनरहित आचरण करता है—वह मतार्थी है ।

ज्ञानदशा पाम्यो नहीं, साधनदशा न कांइ ।
पामे तेनो संग जे, ते बुडे भव मांहि ॥ ३० ॥

वह जीव ज्ञान-दशाको नहीं पाता, और इसी तरह वैराग्य आदि साधन-दशा भी उसे नहीं है । इस कारण ऐसे जीवका यदि किसी दूसरे जीवको सयोग हो जाय तो वह जीव भी भव-सागरमें डूब जाता है ।

ए पण जीव मतार्थमां निजमानादि काज ।
पामे नहीं परमार्थने, अनअधिकारिमां ज ॥ ३१ ॥

यह जीव भी मतार्थमें ही रहता है । क्योंकि ऊपर कहे अनुसार जीवको जिस तरह कुलधर्म आदिसे मतार्थता रहती है, उसी तरह इसे भी अपनेको ज्ञानी मनवानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्क मतका आग्रह रहता है । इसलिये वह भी परमार्थको नहीं पाता, और इस कारण वह भी अनधिकारी अर्थात् जिसमें ज्ञान प्रवेश होने योग्य नहीं, ऐसे जीवोंमे गिना जाता है ।

नहीं कषाय उपशांतता, नहीं अंतर्वैराग्य ।
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥ ३२ ॥

जिसकी क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय कृश नहीं हुई; तथा जिसे अतर्वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ; जिसे आत्मामें गुण ग्रहण करनेरूप सरलता नहीं है, तथा सत्य असत्यकी तुलना करनेकी जिसे पक्षपातरहित दृष्टि नहीं है, वह मतार्थी जीव भाग्यहीन है । अर्थात् जन्म, जरा, मरणका छेदन करनेवाले मोक्षमार्गके प्राप्त करने योग्य उसका भाग्य ही नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ।

लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा काज ।
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥ ३३ ॥

इस तरह मतार्थी जीवके लक्षण कहे । उसके कहनेका हेतु यही है कि जिससे उन्हें जानकर जीवोंका मतार्थ दूर हो । अब आत्मार्थी जीवके लक्षण कहते हैं । वे लक्षण कैसे हैं ? कि आत्माको अव्याबाध सुखकी सामग्रीके हेतु हैं ।

आत्मार्थीके लक्षण—

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय ।
बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥ ३४ ॥

जहाँ आत्म-ज्ञान हो वहीं मुनिपना होता है, अर्थात् जहाँ आत्म-ज्ञान नहीं वहाँ मुनिपना संभव

नहीं है। **जं समंति पासह तं मोणंति पासह**—जहाँ समकित अर्थात् आत्मज्ञान है वहीं मुनिपना समझो; ऐसा आचारागसूत्रमें कहा है। अर्थात् आत्मार्थी जीव ऐसा समझता है कि जिसमें आत्मज्ञान हो वही सच्चा गुरु है; और जो आत्मज्ञानसे रहित हो ऐसे अपने कुलके गुरुको सद्गुरु मानना—यह मात्र कल्पना है, उससे कुछ संसारका नाश नहीं होता।

प्रत्यक्ष सद्गुरुप्राप्तिनो, गणे परम उपकार।
त्रणे योग एकत्वथी, वर्ते आज्ञाधार॥ ३५॥

वह प्रत्यक्ष सद्गुरुकी प्राप्तिका महान् उपकार समझता है; अर्थात् शास्त्र आदिसे जो समाधान नहीं हो सकता, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा धारण किये विना दूर नहीं होते, उनका सद्गुरुके योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते है। इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरुका वह महान् उपकार समझता है, और उस सद्गुरुके प्रति मन वचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक चलता है।

एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत॥ ३६॥

तीनों कालमें परमार्थका पंथ अर्थात् मोक्षका मार्ग एक ही होना चाहिये; और जिससे वह परमार्थ सिद्ध हो, वह व्यवहार जीवको मान्य रखना चाहिये, दूसरा नहीं।

एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरुयोग॥
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहीं मनरोग॥ ३७॥

इस तरह अंतरमें विचारकर जो सद्गुरुके योगकी शोध करता है; केवल एक आत्मार्थकी ही इच्छा रखता है, मान पूजा आदि ऋद्धि-सिद्धिकी कुछ भी इच्छा नहीं रखता—यह रोग जिसके मनमें ही नहीं है—वह आत्मार्थी है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद प्राणी-दया, त्यां आत्मार्थ निवास॥ ३८॥

कषाय जहाँ कृश पड़ गई हैं, केवल एक मोक्ष-पदके सिवाय जिसे दूसरे किसी पदकी अभिलाषा नहीं, संसारपर जिसे वैराग्य रहता है, और प्राणीमात्रके ऊपर जिसे दया है—ऐसे जीवमें आत्मार्थका निवास होता है।

दशा न एवी ज्यांसुधी, जीव लहे नहीं जोग्य।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतरोग॥ ३९॥

जबतक ऐसी योग-दशाको जीव नहीं पाता, तबतक उसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती, और आत्म-भ्रांतिरूप अनंत दुःखका हेतु अंतर-रोग नहीं मिटता।

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय॥ ४०॥

जहाँ ऐसी दशा होती है, वहाँ सद्गुरुका बोध शोभाको प्राप्त होता है—फलीभूत होता है, और उस बोधके फलीभूत होनेसे सुखदायक सुविचारदशा प्रगट होती है।

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान ।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ॥ ४१ ॥

जहाँ सुविचार-दशा प्रगट हो, वहीं आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और उस ज्ञानसे मोहका क्षय कर आत्मा निर्वाण-पदको प्राप्त करती है ।

उपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय ।
गुरुशिष्यसंवादथी, भाखुं षट्पद आंहि ॥ ४२ ॥

जिससे सुविचार-दशा उत्पन्न हो, और मोक्ष-मार्ग समझमें आ जाय, उस विषयको यहाँ षट् पदरूपसे गुरु-शिष्यके संवादरूपमें कहता हूँ ।

षट्पदनामकथन—

आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म ।
छे भोक्ता, वळी मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥ ४३ ॥

'आत्मा है', 'वह आत्मा नित्य है', 'वह आत्मा अपने कर्मकी कर्त्ता है', 'वह कर्मकी भोक्ता है', 'उससे मोक्ष होती है', और 'उस मोक्षका उपायरूप सद्धर्म है ।*

षट्स्थानक संक्षेपमां षट्दर्शन पण तेह ।
समजावा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥ ४४ ॥

ये छह स्थानक अथवा छह पद यहाँ संक्षेपमें कहे हैं, और विचार करनेसे षट्दर्शन भी यही हैं । परमार्थ समझनेके लिये ज्ञानी-पुरुषने ये छह पद कहे हैं ।

१ शंका-शिष्य उवाच—

शिष्य आत्माके अस्तित्वरूप प्रथम स्थानकके विषयमें शंका करता है:—

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप ।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥ ४५ ॥

वह दृष्टिमें नहीं आता, और उसका कोई रूप भी मालूम नहीं होता । तथा स्पर्श आदि दूसरे अनुभवसे भी उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिये जीवका निजरूप नहीं है, अर्थात् जीव नहीं है ।

अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण ।
मिथ्या जूदो मानवो, नहीं जूदुं एंधाण ॥ ४६ ॥

अथवा जो देह है वही आत्मा है, अथवा जो इन्द्रियाँ हैं वही आत्मा है, अथवा श्वासोच्छ्वास ही आत्मा है; अर्थात् ये सब एक एक करके देहस्वरूप हैं, इसलिये आत्माको भिन्न मानना मिथ्या है । क्योंकि उसका कोई भी भिन्न चिह्न दिखाई नहीं देता ।

---

१ उपाध्याय यशोविजयजीने 'सम्यक्त्वना षट्स्थान-स्वरूपनी चौपाई' के नामसे गुजरातीमें १२५ चौपाइयाँ लिखी हैं । उसमें जिस गाथामें सम्यक्त्वके षट्स्थानक बताये हैं, वह गाथा निम्नरूपसे है:—

अत्थि जीवो तहा णिचो, कत्ता भुत्ताय पुण्णपावाणा ।
अत्थि धुव णिव्वाण तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥

* इसके विस्तृत विवेचनके लिये देखो अंक नं० ४०६. —अनुवादक.

वळी जो आतमा होय तो, जणाय ते नहीं केम ।
जणाय जो ते होय तो, घटपट आदि जेम ॥ ४७ ॥

और यदि आत्मा हो तो वह माळूम क्यों नहीं होती ? जैसे घट पट आदि पदार्थ मौजूद हैं, और वे माळूम होते हैं, उसी तरह यदि आत्मा हो तो वह क्यों माळूम नही होती ?

माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय ।
ए अंतर शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥ ४८ ॥

अतएव आत्मा नहीं है; और आत्मा नहीं, इसलिये उसके मोक्षके लिये उपाय करना भी व्यर्थ है—इस मेरी अंतरकी शंकाका कुछ भी सदुपाय हो तो कृपा करके मुझे समझाइये—अर्थात् इसका कुछ समाधान हो तो कहिये ।

समाधान—सद्गुरु उवाच—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्माका अस्तित्व है:—

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगटलक्षणे भान ॥ ४९ ॥

देहाध्याससे अर्थात् अनादिकालके अज्ञानके कारण देहका परिचय हो रहा है, इस कारण तुझे आत्मा देह जैसी अर्थात् आत्मा देह ही भासित होती है । परन्तु आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि दोनों ही भिन्न भिन्न लक्षणपूर्वक प्रगट देखनेमें आते हैं ।

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥ ५० ॥

अनादिकालके अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा भासित हुई है, अथवा देहके समान ही आत्मा भासित हुई है । परन्तु जिस तरह तलवार और म्यान दोनों एक म्यानरूप माळूम होते हैं फिर भी दोनों भिन्न भिन्न हैं, उसी तरह आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न है ।

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप ।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥ ५१ ॥

वह आत्मा, दृष्टि अर्थात् ऑखसे कैसे दिखाई दे सकती है ? क्योंकि उल्टी आत्मा ही ऑखको देखनेवाली है । जो स्थूल सूक्ष्म आदिके स्वरूपको जानता है; और सबमें किसी न किसी प्रकारकी बाधा आती है परन्तु जिसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नही आ सकती, ऐसा जो अनुभव है, वही जीवका स्वरूप है ।

छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान ।
पॉच इन्द्रिना विषयनुं, पण आत्माने भान ॥ ५२ ॥

जो कर्णेन्द्रियसे सुना जाता है उसे कर्णेन्द्रिय जानती है, उसे चक्षु इन्द्रिय नहीं जानती; और जो चक्षु इन्द्रियसे देखा जाता है उसे कर्णेन्द्रिय नहीं जानती । अर्थात् सब इन्द्रियोंको अपने अपने विषयका ही ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं होता, और आत्माको तो पॉचों इन्द्रियोंके

विषयका ज्ञान होता है अर्थात् जो उन पाँच इन्द्रियोंसे ग्रहण किये हुए विषयको जानता है, वह आत्मा है; और ऐसा जो कहा है कि आत्माके बिना प्रत्येक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है, वह केवल उपचारसे ही कहा है।

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण।
आत्मानी सत्तावडे, तेह प्रवर्ते जाण ॥ ५३ ॥

उसे न तो देह जानती है, न इन्द्रियाँ जानती हैं, और न श्वासोच्छ्वासरूप प्राण ही उसे जानता है। वे सब एक आत्माकी सत्तासे ही प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे जड़रूप ही पड़े रहते हैं—तू ऐसा समझ।

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाण सदाय ॥ ५४ ॥

जाग्रत स्वप्न और निद्रा अवस्थाओंमें रहनेपर भी वह उन सब अवस्थाओंसे भिन्न रहा करता है, और उन सब अवस्थाओंके बीत जानेपर भी उसका अस्तित्व रहता है। वह उन सब अवस्थाओंको जाननेवाला प्रगटस्वरूप चैतन्यमय है, अर्थात जानते रहना ही उसका स्पष्ट स्वभाव है, और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है—उस निशानीका कभी भी नाश नहीं होता।

घट पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान।
जाणनार ते मान नहीं, कहिये केवु ज्ञान ? ॥ ५५ ॥

घट पट आदिको तू स्वयं ही जानता है, और तू समझता है कि वे सब मौजूद हैं, तथा जो घट पट आदिका जाननेवाला है, उसे तू मानता नहीं—तो उस ज्ञानको फिर कैसा कहा जाय ?

परमबुद्धि कृष देहमां, स्थूळ देह मति अल्प।
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प ॥ ५६ ॥

दुर्बल देहमें तीक्ष्ण बुद्धि और स्थूल देहमें अल्प बुद्धि देखनेमें आती है। यदि देह ही आत्मा हो तो इस शंका—विरोध—के उपस्थित होनेका अवसर ही नहीं आ सकता।

जड चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काळ द्वय भाव ॥ ५७ ॥

किसी कालमें भी जिसमें जाननेका स्वभाव नहीं वह जड़ है, और जो सदा ही जाननेके स्वभावसे युक्त है वह चेतन है—इस तरह दोनोंका सर्वथा भिन्न भिन्न स्वभाव है, और वह किसी भी प्रकार एक नहीं हो सकता। तीनों कालमें जड़ जड़रूपसे और चेतन चेतनरूपसे ही रहता है। इस तरह दोनोंका ही भिन्न भिन्न द्वैतभाव स्पष्ट अनुभवमें आता है।

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥ ५८ ॥

*आत्मा स्वयं ही आत्माकी शंका करती है। परन्तु जो शंका करनेवाला है वही आत्मा है—इस बातको आत्मा जानती नहीं, यह एक असीम आश्चर्य है।

---

* शंकराचार्यकी भी आत्माके अस्तित्वमें यही प्रसिद्ध युक्ति है—

सर्वो हि आत्मास्तित्वम् प्रत्येति, न नाहमस्मीति। य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।

फ्रान्सके विचारक डेकार्टे (Descarte) ने भी यही लिखा है—cogito ergo sum—I am because I exist—अर्थात् मैं हूँ क्योंकि मैं मौजूद हूँ। —अनुवादक.

२ शंका—शिष्य उवाच—

शिष्य कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है:—

आत्मानां अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार ।
संभव तेनो थाय छे, अंतर् कर्ये विचार ॥ ५९ ॥

आत्माके अस्तित्वमें आपने जो जो बातें कहीं, उनका अंतरंगमें विचार करनेसे वह अस्तित्व तो संभव माल्म होता है ।

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश ।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥ ६० ॥

परन्तु दूसरी शंका यह होती है कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है । वह तीनों कालमे रहनेवाला पदार्थ नहीं, वह केवल देहके सयोगसे उत्पन्न होती है और उसके वियोगसे उसका नाश हो जाता है ।

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय ।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ॥ ६१ ॥

अथवा वस्तु क्षण क्षणमें बदलती हुई देखनेमें आती है, इसलिये सब वस्तु क्षणिक हैं, और अनुभवसे देखनेसे भी आत्मा नित्य नहीं माल्म होती ।

समाधान—सद्गुरु उवाच:—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा नित्य है:—

देह मात्र संयोग छे, वळी जडरूपी दृश्य ।
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ? ॥ ६२ ॥

समस्त देह परमाणुके संयोगसे बनी है, अथवा सयोगसे ही आत्माके साथ उसका संबंध है । तथा वह देह जड़ है, रूपी है और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी द्रष्टाके जाननेका विषय है; इसलिये जब वह अपने आपको भी नहीं जानती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको तो वह कहाँसे जान सकती है ? उस देहके एक एक परमाणुका विचार करनेसे भी वह जड़ ही समझमें आती है । इस कारण उसमेंसे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, और जब उसमें उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उसके साथ चेतनका नाश भी नहीं हो सकता । तथा वह देह रूपी अर्थात् स्थूल आदि परिणामवाली है, और चेतन द्रष्टा है, फिर उसके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो सकती है ? और उसके साथ उसका नाश भी कैसे हो सकता है ? तथा देहमेंसे चेतन उत्पन्न होता है, और उसके साथ ही वह नाश हो जाता है, यह बात किसके अनुभवके आधीन है ? अर्थात् इस बातको कौन जानता है ? क्योकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे प्रथम तो होती नहीं, और नाश तो उससे पहिले ही हो जाता है । तो फिर यह अनुभव किसे होता है ? ॥

आशंका:—जीवका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य त्रिकालवर्ती होना सभव नहीं । वह देहके योगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ ही पैदा होता है, और देहके वियोग अर्थात् देहके नाश होनेपर वह नाश हो जाता है ।

समाधानः—देहका जीवके साथ मात्र संयोग संबंध है। वह कुछ जीवके मूल स्वरूपके उत्पन्न होनेका कारण नहीं। अथवा जो देह है वह केवल संयोगसे ही उत्पन्न पदार्थ है, तथा वह जड़ है अर्थात् वह किसीको भी नहीं जानती, और जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर दूसरेको तो वह क्या जान सकती है? तथा देह रूपी है—स्थूल आदि स्वभावयुक्त है, और चक्षुका विषय है। जब स्वयं देहका ही ऐसा स्वरूप है तो वह चेतनकी उत्पत्ति और नाशको किस तरह जान सकती है? अर्थात् जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है,' इसे कैसे जान सकती है? और 'मेरे छूट जानेके पश्चात् यह चेतन भी छूट जायगा—नाश हो जायगा'—इस बातको जड़ देह कैसे जान सकती है! क्योंकि जाननेवाला पदार्थ ही तो जाननेवाला रहता है—देह तो कुछ जाननेवाली हो नहीं सकती, तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशके अनुभवको किसके आधीन कहना चाहिये?

यह अनुभव देहके आधीन तो कहा जा सकता नहीं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है, और उसके जड़त्वको जाननेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा ही पदार्थ समझमें आता है।

कदाचित् यह कहें कि चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन ही जानता है, तो इस बातके बोलनेमें ही इसमें बाधा आती है। क्योंकि फिर तो चेतनकी उत्पत्ति और नाश जाननेवालेके रूपमें चेतनको ही अंगीकार करना पड़ा; अर्थात् यह वचन तो मात्र अपसिद्धांतरूप और कथनमात्र ही हुआ। जैसे कोई कहे कि 'मेरे मुँहमें जीभ नहीं,' उसी तरह यह कथन है कि 'चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन जानता है, इसलिये चेतन नित्य नहीं'। इस प्रमाणकी कैसी यथार्थता है, उसे तो तुम ही विचार कर देखो।

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान।
ते तेथी जूदा विना, थाय न केमे भान॥ ६३॥

जिसके अनुभवमें इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, उस ज्ञानको उससे भिन्न माने विना, वह ज्ञान किसी भी प्रकारसे संभव नहीं। अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और नाश होता है, यह किसीके भी अनुभवमें नहीं आ सकता॥

देहकी उत्पत्ति और देहके नाशका ज्ञान जिसके अनुभवमें रहता है, वह उस देहसे यदि जुदा न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान नहीं हो सकता। अथवा जो जिसकी उत्पत्ति और नाशको जानता है वह उससे जुदा ही होता है, और फिर तो वह स्वयं उत्पत्ति और नाशरूप न ठहरा, परन्तु उसके जाननेवाला ही ठहरा। इसलिये फिर उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है?

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य।
उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष॥ ६४॥

जो जो संयोग हम देखते हैं, वे सब अनुभवरूप आत्माके दृश्य होते हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें जानती है; और उन संयोगोंके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई भी संयोग समझमें नहीं आता जिससे आत्मा उत्पन्न होती हो। इसलिये आत्मा संयोगसे अनुत्पन्न है अर्थात् वह असंयोगी है—स्वाभाविक पदार्थ है—इसलिये वह स्पष्ट 'नित्य' समझमें आती है॥

जो जो देह आदि संयोग दिखाई देते हैं वे सब अनुभवस्वरूप आत्माके ही दृश्य हैं, अर्थात्

आत्मा ही उन्हें देखने और जाननेवाली है। उन सब संयोगोंका विचार करके देखो तो तुम्हे किसी भी संयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य माल्म न होगी।

कोई भी संयोग ऐसे नहीं जो तुम्हें जानते हो, और तुम तो उन सब सयोगोंको जानते हो, इसीसे तुम्हारी उनसे भिन्नता, और असयोगीपना—उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना—सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभवमें आता है। उससे—किसी भी संयोगसे—जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी संयोग जिसका उत्पत्तिके लिये अनुभवमें नहीं आ सकता, और जिन संयोगोंकी हम कल्पना करें उससे जो अनुभव भिन्न–सर्वथा भिन्न–केवल उसके ज्ञातारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको तुम नित्य स्पर्शरहित—जिसने उन सयोगोंके भावरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया—समझो।

जडथी चेतन उपजे, चेतनथी जड थाय।
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय॥ ६५॥

जडसे चेतन उत्पन्न होता है और चेतनसे जड़ उत्पन्न होता है, ऐसा किसीको कभी भी अनुभव नहीं होता।

कोइ संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय॥ ६६ ॥

जिसकी उत्पत्ति किसी भी सयोगसे नहीं होती, उसका नाश भी किसीके साथ नहीं होता इसलिये आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है॥

जो किसी भी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो, अर्थात् अपने स्वभावसे ही जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका नाश दूसरे किसी भी पदार्थके साथ नहीं होता; और यदि दूसरे पदार्थके साथ उसका नाश होता हो तो प्रथम उसमेंसे उसकी उत्पत्ति होना आवश्यक थी, नहीं तो उसके साथ उसकी नाशरूप एकता भी नहीं हो सकती। इसलिये आत्माको अनुत्पन्न और अविनाशी समझकर यही प्रतीति करना योग्य ह कि वह नित्य है।

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय।
पूर्वजन्म-संस्कार ते, जीव नित्यता त्यांय॥ ६७॥

सर्प आदि प्राणियोंमें क्रोध आदि प्रकृतियोंकी विशेषता जन्मसे ही देखनेमें आती है—कुछ वर्तमान देहमें उन्होंने वह अभ्यास किया नहीं। वह तो उनके जन्मसे ही है। यह पूर्व जन्मका ही संस्कार है। यह पूर्वजन्म जीवकी नित्यता सिद्ध करता है॥

सर्पमें जन्मसे क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है। कबूतरमें जन्मसे ही अहिंसक-वृत्ति देखनेमें आती है। मकड़ी आदि जंतुओंको पकड़नेपर उन्हें पकड़नेसे दुःख होता है, यह भय संज्ञा उनके अनुभवमें पहिलेसे ही रहती है, और इस कारण ही वे भाग जानेका प्रयत्न करते है। इसी तरह किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी, किसीमें निर्भयताकी, किसीमें गंभीरताकी, किसीमें विशेष भय सज्ञाकी, किसीमें काम आदिके प्रति असंगताकी, और किसीमें आहार आदिमें अत्यधिक लुब्धताकी विशेपता देखनेमें आती है। इत्यादि जो भेद हैं अर्थात् क्रोध आदि संज्ञाकी जो न्यूनाधिकता है, तथा उन सब प्रकृतियोंका जो साहचर्य है, वह जो जन्मसे ही साथ देखनेमें आता है उसका कारण पूर्व-संस्कार ही हैं।

कदाचित् यह कहें कि गर्भमें वीर्य और रेतसके गुणके संयोगसे उस उस तरहके गुण उत्पन्न

होते हैं, उनमें कुछ पूर्वजन्म कारण नहीं है, तो यह कहना भी यथार्थ नहीं। क्योंकि जो मा-बाप काम-वासनामें विशेष प्रीतियुक्त देखनेमें आते हैं, उनके पुत्र बालपनेसे ही परम वीतराग जैसे देखे जाते हैं। तथा जिन माता-पिताओंमें क्रोधकी विशेषता देखी जाती है, उनकी संततिमें समताकी विशेषता दृष्टि-गोचर होती है—यह सब फिर कैसे हो सकता है? तथा उस वीर्य-रेतसके वैसे गुण नहीं होते, क्योंकि वह वीर्य-रेतस स्वय चेतन नहीं है; उसमें तो चेतनका संचार होता है—अर्थात् उसमें चेतन स्वय देह धारण करता है। इस कारण वीर्य और रेतसके आश्रित क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते—चेतनके बिना वे भाव कहीं भी अनुभवमें नहीं आते। इसलिये वे केवल चेतनके ही आश्रित हैं, अर्थात् वे वीर्य और रेतसके गुण नहीं। इस कारण वीर्यकी न्यूनाधिकताकी मुख्यतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे ही क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे वे गर्भस्थ वीर्य-रेतसके गुण नहीं कहे जा सकते, परन्तु वे गुण चेतनके ही आश्रित हैं, और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही संभव है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि चेतनका पूर्वप्रयोग उस प्रकारसे हो तो ही वह संस्कार रहता है, जिससे इस देह आदिके पूर्वके सस्कारोंका अनुभव होता है, और वे संस्कार पूर्व-जन्मको सिद्ध करते हैं, तथा पूर्व-जन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय।
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥ ६८ ॥

आत्मा वस्तुरूपसे नित्य है, किन्तु प्रतिसमय ज्ञान आदि परिणामके पलटनेसे उसकी पर्यायमें परिवर्तन होता है। जैसे समुद्रमे परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी लहरोंमें परिवर्तन होता है। उदाहरणके लिये बाल युवा और वृद्ध ये जो तीन अवस्थायें हैं, वे आत्माकी विभाव-पर्याय हैं। बाल अवस्थाके रहते हुए आत्मा बालक माळूम होती है। उस बाल अवस्थाको छोड़कर जब आत्मा युवावस्था धारण करती है, उस समय युवा माळूम होती है, और युवावस्था छोड़कर जब वृद्धावस्था धारण करती है, उस समय वृद्ध माळूम होती है। इन तीनों अवस्थाओंमें जो भेद है वह पर्यायभेद ही है। परन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें आत्म-द्रव्यका भेद नहीं होता; अर्थात् केवल अवस्थाओंमें ही परिवर्तन होता है, आत्मामें परिवर्तन नहीं होता। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानती है, और उसे ही उन तीनों अवस्थाओंकी स्मृति है। इसलिये यदि तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्मा हो तो ही यह होना संभव है। यदि आत्मा क्षण क्षणमें बदलती रहती हो तो वह अनुभव कभी भी नहीं हो सकता।

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ॥ ६९ ॥

तथा अमुक पदार्थ क्षणिक है जो ऐसा जानता है, और क्षणिकत्वका कथन करता है, वह कथन करनेवाला अर्थात् जाननेवाला क्षणिक नहीं होता। क्योंकि प्रथम क्षणमें जिसे अनुभव हुआ हो उसे ही दूसरे क्षणमें वह अनुभव हुआ कहा जा सकता है, और यदि दूसरे क्षणमें वह स्वय ही न हो तो फिर उसे वह अनुभव कहाँसे कहा जा सकता है? इसलिये इस अनुभवसे भी तू आत्माके अक्षणिकत्वका निश्चय कर।

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश ।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥ ७० ॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कालमें सर्वथा नाश नहीं होता, केवल अवस्थांतर ही होता है, इसलिये चेतनका भी सर्वथा नाश नहीं होता। तथा यदि चेतनका अवस्थातररूप नाश होता हो तो वह किसमें मिल जाता है? अथवा वह किस प्रकारके अवस्थातरको प्राप्त करता है? इसकी तू खोज कर। घट आदि पदार्थ जब टूट-फूट जाते हैं तो लोग कहते हैं कि घड़ा नष्ट हो गया है—परन्तु कुछ मिट्टीपनेका नाश नहीं हो जाता। घड़ा छिन्न-भिन्न होकर यदि उसकी अत्यन्त बारीक धूल हो जाय फिर भी वह परमाणुओंके समूहरूपमें तो मौजूद रहता ही है—उसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता, और उसमेंका एक परमाणु भी कम नहीं होता। क्योंकि अनुभवसे देखनेपर उसका अवस्थातर तो हो सकता है, परन्तु पदार्थका समूल नाश हो सकना कभी भी संभव नहीं। इसलिये यदि तू चेतनका नाश कहे तो भी उसका सर्वथा नाश तो कभी कहा ही नहीं जा सकता, वह नाश केवल अवस्थातररूप ही कहा जायगा। जैसे घड़ा टूट-फूट कर अनुक्रमसे परमाणुओंके समूहरूपमें रहता है, उसी तरह तुझे यदि चेतनका अवस्थातर नाश मानना हो तो वह किस स्थितिमें रह सकता है? अथवा जिस तरह घटके परमाणु परमाणु-समूहमें मिल जाते हैं, उसी तरह चेतन किस वस्तुमें मिल सकता है? इसकी तू खोज कर। अर्थात् इस तरह यदि तू अनुभव करके देखेगा तो तुझे माल्रम होगा कि चेतन—आत्मा—किसीमें भी नहीं मिल सकता, अथवा पर-स्वरूपमे उसका अवस्थातर नहीं हो सकता।

३ शंका–शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि आत्मा कर्मकी कर्त्ता नहीं है:—

कर्त्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्त्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥ ७१ ॥

जीव कर्मका कर्त्ता नहीं—कर्म ही कर्मका कर्त्ता है; अथवा कर्म अनायास ही होते रहते हैं। यदि ऐसा न हो और जीवको ही उसका कर्ता कहो, तो फिर वह जीवका धर्म ही ठहरा, और वह उसका धर्म है इसलिये उसकी कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती।

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥ ७२ ॥

अथवा यदि ऐसा न हो तो यह मानना चाहिये कि आत्मा सदा असंग है, और सत्त्व आदि गुणयुक्त प्रकृतियाँ ही कर्मका बंध करती हैं। यदि ऐसा भी न मानो तो फिर यह मानना चाहिये कि जीवको कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है, इस कारण ईश्वरेच्छापर निर्भर होनेसे जीवको उस कर्मसे 'अबध' ही मानना चाहिये।

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय ।
कर्मतणुं कर्त्तापणुं, कां नहीं कां नहीं जाय ॥ ७३ ॥

इसलिये जीव किसी तरह कर्मका कर्त्ता नहीं हो सकता, और न तब मोक्षके उपाय करनेका ही कोई कारण माल्रम होता है। इसलिये या तो जीवको कर्मका कर्त्ता ही न मानना चाहिये और यदि उसे कर्त्ता मानो तो उसका वह स्वभाव किसी भी तरह नाश नहीं हो सकता।

(२) या आत्माका कर्तृत्व न होनेपर भी कर्म हो गये ?

(३) या ईश्वर आदि किसीके लगा देनेसे कर्म हो गये ?

(४) या प्रकृतिके बलपूर्वक संबंध हो जानेसे कर्म हो गये ?

इस तरह मुख्य चार विकल्पोंसे अनायास कर्त्तापनका विचार करना योग्य है ।

प्रथम विकल्प यह है कि 'आत्माके द्वारा बिना विचारे ही कर्म हो गये'।परन्तु यदि ऐसा होता हो तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही नहीं रहता; और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न हो वहाँ कर्मका अस्तित्व भी नहीं हो सकता। परन्तु जीव तो उसका प्रत्यक्ष चिंतवन करता है, और उसका ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है। तथा जिनमें जीव किसी भी तरह प्रवृत्ति नहीं करता, ऐसे क्रोध आदि भाव उसे कभी भी प्राप्त नहीं होते; इससे माद्धम होता है कि आत्माके बिना विचारे हुए अथवा आत्मासे न किये हुए कर्मोंका ग्रहण आत्माको नहीं हो सकता। अर्थात् इन दोनों प्रकारोंसे अनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नहीं होता।

तीसरा विकल्प यह है कि 'ईश्वर आदि किसीके कर्म लगा देनेसे अनायास ही कर्मका ग्रहण होता है'—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका ही निश्चय करना चाहिये; और इस प्रसगको भी विशेष समझना चाहिये। फिर भी यहाँ ईश्वर अथवा विष्णु आदिको किसी तरह कर्त्ता स्वीकार करके उसके ऊपर विचार करते हैं:—

यदि ईश्वर आदि कर्मका लगा देनेवाला हो तो फिर तो बीचमें कोई जीव नामका पदार्थ ही न रहा। क्योंकि जिन प्रेरणा आदि धर्मसे जो वह अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वर-कृत ठहरे, अथवा वे ईश्वरके ही गुण ठहरे। तो फिर जीवका स्वरूप ही क्या बाकी रह गया जिससे उसे जीव—आत्मा—कहा जा सके? अर्थात् कर्म ईश्वरसे प्रेरित नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं आत्माके ही किये हुए हो सकते हैं।

तथा 'प्रकृति आदिके बलपूर्वक कर्म लग जानेसे कर्म अनायास ही हो जाते हों'—यह चौथा विकल्प भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृति आदि जड़ हैं, उन्हें यदि आत्मा ही ग्रहण न करे तो वे उससे किस तरह संबद्ध हो सकते हैं? अथवा द्रव्यकर्मका ही दूसरा नाम प्रकृति है। इसलिये यह तो कर्मको ही कर्मका कर्त्ता कहनेके बराबर हुआ, और इसका तो पूर्वमें निषेध कर ही चुके हैं। यदि कहो कि प्रकृति न हो तो अन्तःकरण आदि जो कर्मको ग्रहण करते हैं, उससे आत्मामें कर्तृत्व सिद्ध होता है—तो वह भी एकातसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अन्तःकरण आदि भी अन्तःकरण आदिरूपसे चेतनकी प्रेरणाके बिना, पहिले ठहर ही कहाँसे सकते हैं? क्योंकि चेतन कर्मोंकी सलग्नताका मनन करनेके लिये जो अवलंबन लेता है, उसे अन्तःकरण कहते हैं। इसलिये यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ स्वयं उस संलग्नतामें मनन करनेका धर्म नहीं है; वह तो केवल जड़ है। चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका अवलम्बन लेकर कुछ ग्रहण करता है, उससे उसमें कर्त्ता-पनेका आरोप होता है, परन्तु मुख्यरूपसे तो वह चेतन ही कर्मका कर्त्ता है।

यहाँ यदि वेदान्त आदि दृष्टिसे विचार करोगे तो हमारे ये वाक्य किसी भ्रातियुक्त पुरुषके कहे हुए माद्धम होंगे। परन्तु जिस प्रकारसे नीचे कहा है उसके समझनेसे तुम्हें उन वाक्योंकी यथार्थता माद्धम होगी, और भ्राति दूर होगी।

यदि किसी भी प्रकारसे आत्माको कर्मका कर्तृत्व न हो तो वह किसी भी प्रकारसे उसका भोक्ता भी नहीं हो सकती; और यदि ऐसा हो तो फिर उसे किसी भी तरहके दुःखोंकी संभावना भी न माननी चाहिये। तथा यदि आत्माको किसी भी तरहके दुःखोंकी बिल्कुल भी संभावना न हो तो फिर वेदान्त आदि शास्त्र सर्व दुःखोंसे छूटनेके जिस मार्गका उपदेश करते हैं, उसका वे किसलिये उपदेश देते हैं? वेदान्त आदि दर्शन कहते हैं कि 'जबतक आत्मज्ञान न हो तबतक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती'—सो यदि दुःखका ही सर्वथा अभाव हो तो फिर उसकी निवृत्तिका उपाय भी क्यों करना चाहिये? तथा यदि आत्मामें कर्मोका कर्तृत्व न हो तो उसे दुःखका भोक्तृत्व भी कहाँसे हो सकता है? यह विचार करनेसे आत्माको कर्मका कर्तृत्व सिद्ध होता है।

प्रश्नः—अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है और तुमने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि आत्माको कर्मकी कर्त्ता मानें तो वह आत्माका धर्म ठहरता है, और जो जिसका धर्म होता है, उसका कभी भी उच्छेद नहीं हो सकता, अर्थात् वह उससे सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। जैसे अग्निकी उष्णता और उसका प्रकाश उससे भिन्न नहीं हो सकते; इसी तरह यदि कर्मका कर्तृत्व आत्माका धर्म सिद्ध हो तो उसका नाश भी नहीं हो सकता।'

उत्तरः—सर्व प्रमाणाशके स्वीकार किये बिना ही यह बात सिद्ध हो सकती है, परन्तु जो विचारवान होता है वह किसी एक प्रमाणाशको स्वीकार करके दूसरे प्रमाणाशका उच्छेद नहीं करता। 'उस जीवको कर्मका कर्तृत्व नहीं होता' और 'यदि हो तो उसकी प्रतीति नहीं हो सकती' इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें जीवको कर्मका कर्त्ता सिद्ध किया गया है। परन्तु आत्मा यदि कर्मकी कर्त्ता हो तो उस कर्मका नाश ही न हो—यह कोई सिद्धात नहीं है। क्योंकि ग्रहण की हुई वस्तुसे ग्रहण करनेवाली वस्तुकी सर्वथा एकता कैसे हो सकती है? इस कारण जीव यदि अपनेसे ग्रहण किये गये द्रव्य-कर्मका त्याग करे तो वह हो सकना संभव है। क्योंकि वह उसका सहकारी स्वभाव ही है—सहज स्वभाव नहीं। तथा उस कर्मको मैंने तुम्हें अनादिका भ्रम कहा है; अर्थात् उस कर्मका कर्त्तापन जीवको अज्ञानसे ही प्रतिपादित किया है; इस कारण भी वह कर्म निवृत्त हो सकता है—यह बात साथमें समझनी चाहिये। जो जो भ्रम होता है, वह सब वस्तुकी उलटी स्थितिकी मान्यतारूप ही होता है, और इस कारण वह निवृत्त किया जा सकता है; जैसे मृगजलमेंसे जलबुद्धि।

कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि अज्ञानसे भी आत्माको कर्त्तापना न हो, तो फिर कुछ भी उपदेश आदिका श्रवण विचार और ज्ञान आदिके समझनेका कोई भी हेतु नहीं रहता।

अब यहाँ जीवका परमार्थसे जो कर्त्तापन है, उसे कहते हैं—

चेतन जो निजभानमां, कर्त्ता आपस्वभाव।
वर्त्ते नहीं निजभानमां, कर्त्ता कर्मप्रभाव॥ ७८॥

आत्मा यदि अपने शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावमें रहे तो वह अपने उसी स्वभावकी कर्त्ता है, अर्थात् वह उसी स्वरूपमें स्थित रहती है, और यदि वह शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावके भानमें न रहती हो, तो वह कर्मभावकी कर्त्ता है॥

अपने स्वरूपके भानमें आत्मा अपने स्वभावकी अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावकी ही कर्त्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिकी कर्त्ता नहीं; और जब आत्मा अपने स्वरूपके भानमें नहीं रहती, तो उसे कर्मभावकी कर्त्ता कहा है।

परमार्थसे तो जीव निष्क्रिय ही है, ऐसा वेदान्त आदि दर्शनोंका कथन है; और जिन-प्रवचनमें भी सिद्ध अर्थात् शुद्ध आत्माकी निष्क्रियताका निरूपण किया है। फिर भी, यहाँ यह संदेह हो सकता है कि हमने आत्माको शुद्धावस्थामें कर्त्ता होनेसे सक्रिय क्यों कहा ? उस संदेहकी निवृत्ति इस तरह करनी चाहिये:—शुद्धात्मा, परयोगकी परभावकी और विभावकी कर्त्ता नहीं हैं, इसलिये वह निष्क्रिय कही जाने योग्य है। परन्तु यदि ऐसा कहें कि आत्मा चैतन्य आदि स्वभावकी भी कर्त्ता नहीं, तब तो फिर उसका कुछ स्वरूप ही नहीं रह जाता। इस कारण शुद्धात्माको योग-क्रिया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परन्तु स्वाभाविक चैतन्य आदि स्वभावरूप क्रिया होनेसे वह सक्रिय भी है। तथा चैतन्यस्वभाव, आत्माका स्वाभाविक गुण है, इस कारण उसमें एकात्मरूपसे ही आत्माका परिणमन होता है, और उससे वहाँ परमार्थनयसे भी आत्माको सक्रिय विशेषण नहीं दिया जा सकता। परन्तु निज स्वभावमें परिणमनरूप क्रिया होनेसे, शुद्ध आत्माको निज स्वभावका कर्त्तापन है; इस कारण उसमें सर्वथा शुद्ध स्वधर्म होनेसे उसका एकात्मरूपसे परिणमन होता है, इसलिये उसे सक्रिय कहनेमें भी दोष नहीं है।

जिस विचारसे सक्रियता और निष्क्रियताका निरूपण किया है, उस विचारके परमार्थको ग्रहण करके सक्रियता और निष्क्रियता कहनेमें कुछ भी दोष नहीं।

४ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि जीव कर्मका भोक्ता नहीं होता:—

जीव कर्मकर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहीं सोय।
शुं समजे जड कर्म के, फळपरिणामी होय ? ॥ ७९ ॥

यदि जीवको कर्मका कर्त्ता मान भी लें तो भी जीव उस कर्मका भोक्ता नहीं ठहरता। क्योंकि जड़ कर्म इस बातको क्या समझ सकता है कि उसमें फल देनेकी शक्ति है ?

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय।
एम कहे ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥ ८० ॥

हाँ, यदि फल देनेवाले किसी ईश्वरको मानें तो भोक्तृत्वको सिद्ध कर सकते हैं; अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म भोगवाता है, यह मानें तो जीव कर्मका भोक्ता सिद्ध होता है। परन्तु इसमें फिर यह भी विरोध आता है कि यदि ईश्वरको दूसरेको फल देने आदि प्रवृत्तियुक्त मानें तो उसका ईश्वरत्व ही नहीं रहता ॥

" ईश्वरके सिद्ध हुए विना—कर्मके फल देने आदिमें किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए विना—जगत्की व्यवस्थाका टिकना संभव नहीं है "—इस संबंधमें निम्नरूपसे विचार करना चाहिये:—

यदि ईश्वरको कर्मका फल देनेवाला मानें तो वहाँ ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रहता। क्योंकि दूसरेको फल देने आदिके प्रपंचमें प्रवृत्ति करते हुए, ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका संग होना संभव है, और उससे उसकी यथार्थ शुद्धताका भंग होता है। जैसे मुक्त जीव निष्क्रिय है, अर्थात् जैसे वह परभाव आदिका कर्त्ता नहीं है; क्योंकि यदि वह परभाव आदिका कर्त्ता हो तो फिर उसे संसारकी ही प्राप्ति होनी चाहिये;

उसी तरह यदि ईश्वर भी दूसरेको फल देने आदिरूप क्रियामें प्रवृत्ति करे तो उसे भी परभाव आदिके कर्त्तापनेका प्रसंग आता है; और मुक्त जीवकी अपेक्षा उसकी न्यूनता ही ठहरती है—इससे तो उसका ईश्वरत्व ही उच्छेद करने जैसा हो जाता है।

तथा जीव और ईश्वरका स्वभाव-भेद माननेसे भी अनेक दोष आते हैं। क्योंकि यदि दोनोंको ही चैतन्य-स्वभाव मानें तब तो दोनों ही समान धर्मके कर्त्ता हुए। फिर उसमें ईश्वर तो जगत् आदिकी रचना करे अथवा कर्मके फल देनेरूप कार्यको करे, और मुक्त गिना जाय, तथा जीव एक मात्र देह आदि सृष्टिकी ही रचना करे, और अपने कर्मोंका फल पानेके लिये ईश्वरका आश्रय ले, तथा बंधनमें बद्ध समझा जाय—यह बात यथार्थ नहीं मालूम होती। यह विषमता किस तरह हो सकती है?

तथा जीवकी अपेक्षा यदि ईश्वरकी सामर्थ्य विशेष मानें, तो भी विरोध आता है। क्योंकि ईश्वरको यदि शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर शुद्ध चैतन्य मुक्त जीवमें और उसमें कोई भेद ही न होना चाहिये; और फिर ईश्वरद्वारा कर्मका फल देना आदि कार्य भी न होना चाहिये, अथवा मुक्त जीवसे भी वह कार्य होना चाहिये। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर वह भी संसारी जीवोंके ही समान ठहरेगा; फिर उसमें सर्वज्ञ आदि गुण कहाँसे हो सकते हैं? अथवा यदि देहधारी सर्वज्ञकी तरह उसे 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मानें तो भी सब कर्मोंके फल देनेरूप जो विशेष स्वभाव है, वह ईश्वरमें कौनसे गुणके कारण माना जायगा? तथा देह तो विनाशीक है, इस कारण ईश्वरकी देह भी नाश हो जायगी और वह मुक्त होनेपर कर्मका फल देनेवाला न रहेगा, इत्यादि अनेक प्रकारसे ईश्वरको कर्म-फलदाता कहनेमें दोष आते हैं, और ईश्वरको उस स्वरूपसे माननेसे उसका ईश्वरत्व ही उत्थापन करनेके समान होता है।

ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत्-नियम नहीं होय।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहीं कोय ॥ ८१ ॥

जब ऐसा फलदाता कोई ईश्वर सिद्ध नहीं होता, तो फिर जगत्का कोई नियम भी नहीं रहता, और शुभ अशुभ कर्मके भोगनेका स्थान भी कोई नहीं ठहरता—तो जीवको फिर कर्मका भोक्तृत्व भी कहाँ रहा?

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि जीव अपने किये हुए कर्मको भोगता है:—

भावकर्म निजकल्पना, माटे चेतनरूप।
जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडधूप ॥ ८२ ॥

जीवको भाव-कर्म अपनी भ्रांतिसे ही है, इसलिये वह उसे चेतनरूप मान रहा है; और उस भ्रांतिका अनुसरण करके ही जीवका वीर्य स्फुरित होता है, इस कारण वह जड द्रव्य-कर्मकी वर्गणा ग्रहण करता है॥

आशंकाः—कर्म तो जड है, तो वह क्या समझ सकता है कि इस जीवको मुझे इस तरह फल देना है, अथवा उस स्वरूपसे परिणमन करना है? इसलिये जीव कर्मका भोक्ता नहीं हो सकता।

समाधानः—जीव अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही कर्मका कर्त्ता है। तथा 'जो अज्ञान है वह चेत-

नरूप है,' यह जीवकी निजी कल्पना है, और उस कल्पनाके अनुसार ही उसके वीर्य-स्वभावकी स्फूर्ति होती है, अथवा उसके अनुरूप ही उसकी सामर्थ्यका परिणमन होता है, और इस कारण वह द्रव्यकर्मरूप पुद्गलकी वर्गणाको ग्रहण करता है।

झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥ ८३ ॥

ज़हर और अमृत स्वयं नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो जीव उन्हें खाता है उसे उनका फल मिलता है। इसी तरह शुभ-अशुभ कर्म यद्यपि यह नहीं जानते कि हमें इस जीवको यह फल देना है, तो भी ग्रहण करनेवाला जीव ज़हर और अमृतके फलकी तरह कर्मका फल प्राप्त करता है॥

ज़हर और अमृत स्वयं यह नहीं जानते कि हमें खानेवालेको मृत्यु और दीर्घायु मिलती है, परन्तु जैसे उन्हें ग्रहण करनेवालेको स्वभावसे ही उनका फल मिलता है, उसी तरह जीवमें शुभ-अशुभ कर्मका परिणमन होता है, और उसका फल मिलता है। इस तरह जीव कर्मका भोक्ता समझमें आता है।

एक रांकने एक नृप, ए आदि जे भेद।
कारण विना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य ॥ ८४ ॥

एक रंक है और एक राजा है, इत्यादि प्रकारसे नीचता, उच्चता, कुरूपता, सुरूपता आदि बहुतसी विचित्रतायें देखी जातीं हैं, और इस प्रकारका जो भेद है वह सबको समान नहीं रहता—यही जीवको कर्मका भोक्तृत्व सिद्ध करता है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती॥

यदि उस शुभ-अशुभ कर्मका फल न होता हो तो एक रंक है और एक राजा है इत्यादि जो भेद है, वह न होना चाहिये। क्योंकि जीवत्व और मनुष्यत्व तो सबमें समान है, तो फिर सबको सुख-दुःख भी समान ही होना चाहिये। इसलिये जिसके कारण ऐसी विचित्रतायें माळूम होतीं हैं, वही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं।

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥ ८५ ॥

इसमें फलदाता ईश्वरकी कुछ भी ज़रूरत नहीं है। ज़हर और अमृतकी तरह शुभाशुभ कर्मका भी स्वभावसे ही फल मिलता है, और जैसे ज़हर और अमृत निःसत्व हो जानेपर, फल देनेसे निवृत्त हो जाते हैं, उसी तरह शुभ-अशुभ कर्मके भोग लेनेसे कर्म भी निःसत्व हो जानेसे निवृत्त हो जाते हैं॥

ज़हर ज़हररूपसे फल देता है और अमृत अमृतरूपसे फल देता है; उसी तरह अशुभ कर्म अशुभ रूपसे फल देता है और शुभ कर्म शुभरूपसे फल देता है। इसलिये जीव जैसे जैसे अध्यवसायसे कर्मको ग्रहण करता है, वैसे वैसे विपाकरूपसे कर्म भी फल देता है। तथा जैसे ज़हर और अमृत फल देनेके बाद निःसत्व हो जाते हैं, उसी तरह वे कर्म भी भोगसे दूर हो जाते हैं।

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥ ८६ ॥

उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट शुभ गति है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट अशुभ गति है, शुभाशुभ अध्यवसाय मिश्र गति है; अर्थात् उस जीवके परिणामको ही मुख्यरूपसे गति कहा गया है। फिर भी उत्कृष्ट शुभ द्रव्यका उर्ध्वगमन, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्यका अधोगमन, शुभ-अशुभकी मध्य-स्थिति, इस तरह द्रव्यका विशेष स्वभाव होता है। तथा उन उन कारणोंसे वैसे ही भोग्यस्थान भी होने चाहिये। हे शिष्य! इनमें जड़-चेतनके स्वभाव संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका बहुतसा विचार समा जाता है, इसलिये यह बात गहन है, तो भी उसे अत्यंत संक्षेपमें कही है॥

शंकाः—यदि ईश्वर कर्मका फल देनेवाला न हो अथवा उसे जगत्का कर्त्ता न मानें, तो कर्मके भोगनेके विशेष स्थानक—नरक आदि गति आदि स्थान—कहाँसे हो सकते हैं? क्योंकि उसमें तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है।

समाधान—मुख्यरूपसे तो उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय ही उत्कृष्ट देवलोक है, उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय ही उत्कृष्ट नरक है, शुभ-अशुभ अध्यवसाय ही मनुष्य-तिर्यंच आदि गतियाँ है, तथा स्थान-विशेष—ऊर्ध्वलोकमें देवगति—इत्यादि जो भेद हैं, वे भी जीवोंके कर्मद्रव्यके परिणाम-विशेष ही हैं, अर्थात् ये सब गतियाँ जीवके कर्मके परिणाम-विशेष आदिसे ही संभव हैं।

यह बात बहुत गहन है। क्योंकि अचिन्त्य जीव-वीर्य और अचिन्त्य पुद्गल-सामर्थ्यके संयोग-विशेषसे लोकका परिणमन होता है। उसका विचार करनेके लिये उसे अधिक विस्तारसे कहना चाहिये। परन्तु यहाँ तो मुख्यरूपसे आत्मा कर्मका भोक्ता है, इतना लक्ष करानेका अभिप्राय होनेसे ही इस कथनको अत्यंत संक्षेपमें कहा है।

५ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि जीवको उस कर्मसे मोक्ष नहीं है:—

कर्त्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहीं मोक्ष।
वीत्यो काल अनंत पण, वर्त्तमान छे दोष ॥ ८७ ॥

जीव कर्त्ता और भोक्ता भले ही हो, परन्तु उससे उसका मोक्ष हो सकता है, यह बात नहीं है। क्योंकि अनंतकाल बीत गया तो भी अभी जीवमें कर्म करनेरूप दोष विद्यमान हैं ही।

शुभ करे फळ भोगवे, देवादि गति मांय।
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्मरहित न क्यांय ॥ ८८ ॥

यदि जीव शुभ कर्म करे तो उससे वह देव आदि गतिमें उसके शुभ फलका भोग करता है, और यदि अशुभ कर्म करे तो वह नरक आदि गतिमें उसके अशुभ फलका भोग करता है, परन्तु किसी भी जगह जीव कर्मरहित नहीं होता।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि उस कर्मसे जीवको मोक्ष हो सकती है:—

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण ।
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

जिस तरह तूने जीवको शुभ-अशुभ कर्म करनेके कारण जीवको कर्मोंका कर्ता, और कर्त्ता होनेसे उसे कर्मका भोक्ता समझा है, उसी तरह उसे न करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे उसकी निवृत्ति भी होना संभव है । इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफलता है; अर्थात् जिस तरह वह शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाता, उसी तरह उसकी निवृत्ति भी निष्फल नहीं जा सकती । इसलिये हे विचक्षण ! तू यह विचार कर कि उस निवृत्तिरूप मोक्ष है ।

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव ।
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

कर्मसहित जो अनंतकाल वीत गया—वह सब शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके कारण ही वीता है । परन्तु उसपर उदासीन होनेसे उस कर्मके फलका छेदन किया जा सकता है, और उससे मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो सकता है ।

देहादि संयोगनो, आत्यंतिक वियोग ।
सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ॥ ९१ ॥

देह आदि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो सदा होता ही रहता है; परन्तु यदि उसका ऐसा वियोग किया जाय कि वह फिरसे ग्रहण न हो, तो सिद्धस्वरूप मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो, और शाश्वत पदमें अनंत आत्मानन्द भोगनेको मिले ।

६ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है:—

होय कदापि मोक्षपद, नहीं अविरोध उपाय ।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ? ॥ ९२ ॥

कदाचित् मोक्ष-पद हो भी परन्तु उसके प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात् जिससे याथातथ्य प्रतीति हो, ऐसा कोई उपाय मालूम नहीं होता । क्योंकि अनंतकालके जो कर्म हैं वे अल्प आयुकी मनुष्य-देहसे कैसे छेदन किये जा सकते है ?

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक ।
तेमां मत साचो कयो ? बने न एह विवेक ॥ ९३ ॥

अथवा कदाचित् मनुष्य देहकी अल्प आयु वगैरहकी शंका छोड़ भी दें, तो भी संसारमें अनेक मत और दर्शन हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं । अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है, फिर उनमें कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक होना कठिन है ।

कयी जातिमां मोक्ष छे ? कया वेषमां मोक्ष ?
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष ॥ ९४ ॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेषसे मोक्ष है, इसका निश्चय होना

कठिन है । क्योंकि वैसे बहुतसे भेद हैं, और इस दोषके कारण भी मोक्षका उपाय प्राप्त होने योग्य दिखाई नहीं देता ।

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष-उपाय ।
जीवादि जाण्यातणो, शो उपकार ज थाय ॥ ९५ ॥

इनसे ऐसा मालूम होता है कि मोक्षका उपाय प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये जीव आदिका स्वरूप जाननेसे भी क्या उपकार हो सकता है ? अर्थात् जिस पदके लिये इसके जाननेकी आवश्यकता है, उस पदका उपाय प्राप्त होना असंभव दिखाई देता है ।

पांचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग ।
समजुं मोक्ष-उपाय तो, उदय उदय सद्भाग (ग्य) ॥ ९६ ॥

आपने जो पांच उत्तर कहे हैं, उनसे मेरी शंकाओंका सर्वांग—सम्पूर्ण रूपसे—समाधान हो गया है । परन्तु यदि मैं मोक्षका उपाय समझ हूँ तो मुझे सद्भाग्यका उदय—अति उदय—हो ।

(यहाँ ' उदय ' ' उदय ' शब्द जो दो बार कहा है, वह पाँच उत्तरोंके समाधानसे होनेवाली मोक्षपदकी जिज्ञासाकी तीव्रता दिखाता है) ।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि मोक्षका उपाय हैः—

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत ।
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥ ९७ ॥

जिस तरह तेरी आत्मामें पाँच उत्तरोंकी प्रतीति हुई है, इसी तरह मोक्षके उपायकी भी तुझे सहज ही प्रतीति हो जायगी ।

यहाँ ' होगी ' और ' सहज ' ये दो शब्द जो सद्गुरुने कहे हैं, वे इसलिये कहे हैं कि जिसे पाँचों पदोंकी शंका निवृत्त हो गई है, उसे मोक्षका उपाय समझाना कुछ भी कठिन नहीं है, तथा उससे शिष्यकी विशेष जिज्ञासा-वृत्तिके कारण उसे अवश्य मोक्षोपायका लाभ होगा—यह सद्गुरुके वचनका आशय है ।

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास ।
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥ ९८ ॥

जो कर्मभाव है वही जीवका अज्ञान है, और जो मोक्षभाव है वही जीवका निज स्वरूपमें स्थित होना है । अज्ञानका स्वभाव अंधकारके समान है । इस कारण जिस तरह प्रकाश होनेपर दीर्घकालीन अंधकार होनेपर भी नाश हो जाता है, उसी तरह ज्ञानका प्रकाश होनेपर अज्ञान भी नष्ट हो जाता है ।

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ ।
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥ ९९ ॥

जो जो कर्म-बंधके कारण हैं, वे सब कर्म-बंधके मार्ग हैं, और उन सब कारणोंका छेदन करनेवाली जो दशा है वही मोक्षका मार्ग है—भवका अंत है ।

राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है; इसके बिना कर्मका बंध नहीं होता। उसकी निवृत्ति जिससे हो वही मोक्षका मार्ग है ।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहित ।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

'सत्'—अविनाशी, 'चैतन्यमय'—सर्वभावको प्रकाश करनेरूप स्वभावमय—अर्थात् अन्य सर्वविभाव और देह आदिके संयोगके आभाससे रहित, तथा 'केवल'—शुद्ध—आत्माको प्राप्त करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करना, वही मोक्षका मार्ग है ।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ ।
तेमां मुख्ये मोहिनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं । उसमें भी मुख्य कर्म मोहनीय कर्म है । जिससे वह मोहनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हूँ ।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम ।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं:—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय । परमार्थमें अपरमार्थ बुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिको दर्शनमोहनीय कहते हैं; और तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व संस्काररूप कषाय और नोकषायको चारित्रमोहनीय कहते हैं ।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं । ये उसके अचूक उपाय है । क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, और उसका प्रतिपक्ष सत्य-आत्मबोध है; तथा चारित्रमोहनीय जो राग आदि परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है । अर्थात् जिस तरह प्रकाशके होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है—वह उसका अचूक उपाय है—उसी तरह बोध और वीतरागता अनुक्रमसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अंधकारके दूर करनेमें प्रकाश स्वरूप हैं, इसलिये वे उसके अचूक उपाय है ।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह ।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह ? ॥ १०४ ॥

क्रोध आदि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमा आदि भावसे उसका नाश हो जाता है। अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, सरलतासे माया रोकी जा सकती है, संतोषसे लोभ रोका जा सकता है । इसी तरह रति अरति आदिके प्रतिपक्षसे वे सब दोष रोके जा सकते हैं । वही कर्म-बंधका निरोध है; और वही उसकी निवृत्ति है । तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है, अथवा उसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है । क्रोध आदि रोकनेसे रुक जाते हैं, और जो कर्मके

बंधको रोकना है, वह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमे नहीं परन्तु यहीं अनुभवमें आता है, तो इसमें फिर क्या संदेह करना?

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये, अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोडकर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भव बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही बतानेके लिये किया है कि कचित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामोंसे आराधन हुआ हो, तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना सभव है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही थोड़े होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे वमन न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है', तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसकी उसी भवमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

षट्पदना षट्प्रश्न तें, पूछ्यां करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य! तूने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूँछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकांतसे अथवा अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

जाति वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेषसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद—फेर-फार—नहीं है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद, अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कषाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आत्मामें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उदासीनता रहती है, तथा अंतरंगमें प्राणियोंके ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव मार्गको प्राप्त करने योग्य है।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध।
तो पामे समकीतने, वर्त्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पा जाता है और अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है, जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति प्रवाहित होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास माल्म हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे समस्त राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४ ॥

करोड़ो वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५ ॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें जो अहंभाव—ममत्वभाव—रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है—वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं, और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६ ॥

इसी धर्मसे मोक्ष है, और तू ही मोक्षस्वरूप है, अर्थात् शुद्ध आत्मपद ही मोक्ष है। तू अनंतज्ञान दर्शन तथा अव्याबाध सुखस्वरूप है।

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजुं कहिये केटलुं ? कर विचार तो पाम ॥ ११७ ॥

तू देह आदि सब पदार्थोंसे जुदा है। आत्मद्रव्य न किसी दूसरेमें मिलता है और न आत्मद्रव्यमें कोई मिलता है। परमार्थसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे सदा भिन्न है, इसलिये तू शुद्ध है—बोध स्वरूप है—चैतन्य-प्रदेशात्मक है—स्वयं-ज्योति है—तेरा कोई भी प्रकाश नहीं करता—तू स्वभावसे ही प्रकाश-स्वरूप है, और अव्याबाध सुखका धाम है। अधिक कितना कहें ? अधिक क्या कहें ? सक्षेपमें इतना ही कहते हैं कि यदि तू विचार करेगा, तो तू उस पदको पावेगा।

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र शमाय।
धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय ॥ ११८ ॥

सब ज्ञानियोंका निश्चय इसीमें आकर समा जाता है—यह कहकर सद्गुरु मौन धारण करके—वचन-योगकी प्रवृत्तिका त्याग करके सहज समाधिमें स्थित हो गये।

शिष्य-बोधबीज-प्राप्ति कथन—

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान।
निजपद निज मांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान ॥ ११९ ॥

शिष्यको सद्गुरुके उपदेशसे अपूर्व—जो पूर्वमें कभी भी प्राप्त न हुआ हो—भान हुआ, उसे निजका स्वरूप अपने निजमें जैसाका तैसा भासित हुआ, और देहमें आत्म-बुद्धिरूप उसका अज्ञान दूर हो गया।

भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप।
अजर अमर अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥ १२० ॥

वह अपना निजका स्वरूप शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देहसे स्पष्ट भिन्न भासित हुआ।

कर्त्ता भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्त्ते ज्यांय।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्त्ता त्यांय ॥ १२१ ॥

जहाँ विभाव—मिथ्यात्व—रहता है, वहीं मुख्यनयसे कर्मका कर्त्तापन और भोक्तापन है, आत्म-स्वभावमें वृत्ति प्रवाहित होनेसे तो यह जीव अकर्त्ता हो जाता है।

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप।
कर्त्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्पस्वरूप ॥ १२२ ॥

अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो आत्म-परिणाम है, जीव उसका निर्विकल्प स्वरूपसे कर्त्ता और भोक्ता है।

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रन्थ ॥ १२३ ॥

आत्माका जो शुद्धपद है वही मोक्ष है; और जिससे वह मोक्ष प्राप्त किया जाय वह मोक्षका मार्ग है। श्रीसद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रन्थके सकल मार्गको समझाया है।

अहो ! अहो ! श्रीसद्गुरु, करुणासिंधु अपार।
आ पामरपर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार ॥ १२४ ॥

अहो ! अहो ! करुणाके अपार, समुद्रस्वरूप, आत्म-लक्ष्मीसे युक्त सद्गुरु ! आप प्रभुने इस पामर जीवपर आश्चर्यजनक उपकार किया है।

शुं प्रभु चरणकने धरूं ! आत्माथी सौ हीन।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥ १२५ ॥

मैं प्रभुके चरणोंके समक्ष क्या रक्खूँ ? (सद्गुरु तो यद्यपि परम निष्काम है—एकमात्र निष्कारण करुणासे ही उपदेशके देनेवाले है, परन्तु शिष्यने शिष्यधर्मसे ही यह वचन कहा है)। जगत्में जितनेभर पदार्थ है, वे सब आत्माकी अपेक्षासे तो मूल्यहीन ही हैं। फिर उस आत्माको ही जिसने प्रदान किया है, उसके चरणोंके समीप मैं दूसरी और क्या भेंट रक्खूँ ? मैं केवल उपचारसे इतना ही करनेको समर्थ हूँ कि मैं एक प्रभुके चरणोंके ही आधीन रहूँ।

आ देहादि आजथी, वर्त्तो प्रभुआधीन।
दास दास हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ॥ १२६ ॥

इस देह आदि शब्दसे जो कुछ मेरा माना जाता है, वह आजसे ही सद्गुरु प्रभुके आधीन रहो। मैं उस प्रभुका दास हूँ—दास हूँ—दीन दास हूँ।

षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप।
म्यानथकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥ १२७ ॥

हे सद्गुरु देव ! छह स्थानोंको समझाकर, जिस तरह कोई म्यानसे तलवारको अलग निकालकर बताता है, उसी तरह आपने देह आदिसे आत्माको स्पष्ट भिन्न बताई है। इसलिये आपने मेरा असीम उपकार किया है।

उपसंहार—

दर्शन षटे शमाय छे, आ षट् स्थानक मांहि।
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांइ ॥ १२८ ॥

छहों दर्शन इन छह स्थानोंमें समाविष्ट हो जाते हैं। इनका विशेषरूपसे विचार करनेसे इसमें किसी भी प्रकारका संशय नहीं रह जाता।

आत्मभ्रांतिसम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरुआज्ञासम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥ १२९ ॥

आत्माको जो अपने निज स्वरूपका भान नहीं—इसके समान दूसरा कोई भी रोग नहीं; सद्गुरुके समान उसका कोई भी सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं, सद्गुरुकी आज्ञापूर्वक चलनेके समान दूसरा कोई भी पथ्य नहीं; और विचार तथा निदिध्यासनके समान उसकी दूसरी कोई भी औषधि नहीं।

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लइ, छेदो नहीं आत्मार्थ ॥ १३० ॥

उसके उपादान कारण है—ऐसा शास्त्रमें कहा है। इससे उपादानका नाम लेकर जो कोई उस निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धत्वको नहीं पा सकता, और वह भ्रांतिमें ही रहा करेगा। क्योंकि शास्त्रमें उस उपादानकी व्याख्या सच्चे निमित्तके निषेध करनेके लिये नहीं कही। परन्तु शास्त्रकारकी कही हुई उस व्याख्याका यही परमार्थ है कि उपादानके अजाग्रत रखनेसे सच्चा निमित्त मिलनेपर भी काम न होगा, इसलिये सद्निमित्त मिलनेपर उस निमित्तका अवलम्बन लेकर उपादानको सन्मुख करना चाहिये, और पुरुषार्थहीन न होना चाहिये।

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर् छूट्यो न मोह।

ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥ १३७ ॥

जो मुखसे निश्चय-प्रधान वचनोंको कहता है, परन्तु अंतरसे जिसका अपना मोह छूटा नहीं, ऐसा पामर प्राणी मात्र केवलज्ञानी कहलवानेकी कामनासे ही सद्ज्ञानी पुरुषका द्रोह करता है।

दया शांति समता क्षमा, सत्य त्याग वैराग्य।

होय मुमुक्षुघटविषे, एह सदाय सुजाग्य ॥ १३८ ॥

दया, शांति, समता, सत्य, त्याग, और वैराग्य गुण मुमुक्षुके घटमें सदा ही जाग्रत रहते हैं, अर्थात् इन गुणोंके बिना तो मुमुक्षुपना भी नहीं होता।

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत।

ते कहिये ज्ञानी दशा, बाकी कहिये भ्रांत ॥ १३९ ॥

जहाँ मोहभावका क्षय हो गया है, अथवा जहाँ मोह-दशा क्षीण हो गई हो, उसे ज्ञानीकी दशा कहते हैं, और नहीं तो जिसने अपनेमें ही ज्ञान मान लिया हो, वह तो केवल भ्रांति ही है।

सकळ जगत् ते एठवत्, अथवा स्वप्नसमान।

ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥ १४० ॥

समस्त जगत्को जिसने उच्छिष्ट समान समझा है, अथवा जिसके ज्ञानमें जगत् स्वप्नके समान मालूम होता है, वही ज्ञानीकी दशा है, बाकी तो सब केवल वचन-ज्ञान—मात्र कथन ज्ञान—ही है।

स्थानक पांच विचारीने, छट्ठे वर्त्ते जेह।

पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहीं संदेह ॥ १४१ ॥

पाचों पदोंका विचारकर जो छट्ठे पदमें प्रवृत्ति करता है—जो मोक्षके उपाय ऊपर कहे हैं, उनमें प्रवृत्ति करता है—वह पाँचवें स्थानक मोक्षपदको पाता है।

देह छतां जेनी दशा, वर्त्ते देहातीत।

ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित ॥ १४२ ॥

जिसे पूर्व प्रारब्धके योगसे देह रहनेपर भी जिसकी दशा उस देहसे अतीत—देह आदिकी ममतारहित—आत्मामय रहती है, उस ज्ञानी-पुरुषके चरण-कमलमें अगणित बार वंदन हो! वंदन हो!

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु

उपदेशछाया और आत्मसिद्धिके विशिष्ट शब्दोंकी सूची

संशोधन और परिवर्त्तन

अशुद्ध पृष्ठ लाइन	शुद्ध
७–२६ करनेवाली	=करनेवाले
१२–२३ मड	=मद
२०–३४ तपगच्छवाले	=श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक
२७–१४ ही	=भी
२७–२२ रोग	=योग
३४–६ हो	=हो जाय
३७–२४ मारामारी	=ममत्व
३९–२० जीव ऐसा	=ऐसे जीव
४१–१ अधमार्ग बताने जैसा	=जैसे अधा मार्ग बतावे ऐसा है।
४१–२३ जिस तरह उसे खेद हो वह उस तरह	=ज्यों ही उसे खेद हुआ कि वह तुरत ही
४९–१ मटकने	=कमाने
४९–१९ अन्तः	=अन्त
५५–४ प	=पड़
६०–१४ थवा	=अथवा
६०–३३ पाहल	=पहिले
६१–१८ किसीसे	=कोई
८२–२३ फदळाता	=फळदाता

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके प्रकाशित
ग्रन्थोंकी सूची।

१ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल और पं० नाथूरामजी प्रेमीकृत सरल और विस्तृत भाषाटीका। इसमें श्रावकाचार और अहिंसाके स्वरूपका विशद वर्णन है। मूल्य सजिल्दका १।)

२ **पंचास्तिकाय**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथायें, अमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वदीपिका, जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृतटीकायें, और स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत भाषाटीका मूल्य सजिल्दका २)

३ **ज्ञानार्णव**—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल स्व० पं० जयचन्द्रजीकृत भाषाटीका, योगके विषयका अपूर्व ग्रंथ है। मूल्य सजिल्दका ४)

४ **सप्तभंगीतरंगिणी**—श्रीविमलदासकृत मूल और स्व० पं० ठाकुरप्रसाद व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका। नव्य-न्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। मूल्य १)

५ **बृहद्द्रव्यसंग्रह**—श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत गाथायें, श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृतटीका, पं० जवाहरलाल शास्त्रीकृत भाषाटीका सजिल्दका, मूल्य २।)

६ **गोम्मटसार-कर्मकांड**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृत छाया और भाषाटीका सहित। मूल्य सजिल्दका २॥)

७ **गोम्मटसार—जीवकांड**-श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री-कृत संस्कृत छाया भाषाटीका सहित। मू० सजिल्दका २॥)

८ **लब्धिसार**—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृत छाया और हिन्दी टीकासहित। मूल्य सजिल्दका १॥)

९ **प्रवचनसार**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत। अमृतचन्द्र जयसेनकी दो संस्कृत टीकायें, पाडे हेमराजकी हिन्दीटीका प्रो० ए० एन० उपाध्यायकी अंग्रेजी टीका और अंग्रेजीकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना सहितका मू०मूल्य५)

१० **परमात्मप्रकाश और योगसार**—श्रीयोगीन्द्रदेवकृत दोहे, ब्रह्मदेवकृत संस्कृतटीका, स्व० पं० दौलतरामजीकृत भाषाटीका है। प्रो० ए० एन्० उपाध्यायकी लिखी महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना है, अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी सार भी है। मूल्य सजिल्दका ४॥).

११ **समयसार**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत गाथायें, अमृतचन्द्राचार्य जयसेनाचार्यकृत दो संस्कृत टीकायें और स्व० पं० जयचन्द्रजीकृत हिन्दीटीका सहित। मूल्य सजिल्दका ४॥)

१२ **द्रव्यानुयोगतर्कणा**—श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है।

१३ **स्याद्वादमंजरी**—श्रीमल्लिषेणसूरिकृत मूल और पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम०ए०कृत हिन्दी अनुवादसहित। न्यायका अपूर्व ग्रंथ है। बड़ी खोजसे लिखे हुए १३ परिशिष्ट हैं। मूल्य सजिल्दका ४॥).

१४ **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र**—श्रीमत् उमास्वामिकृत मूल सूत्र और संस्कृत भाष्य, पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका, मूल्य सजिल्दका ३)

१५ **पुष्पमाला मोक्षमाला भावनाबोध**—श्रीमद्राजचन्द्रकृत। मू. ॥।)

१६ **उपदेशछाया-आत्मसिद्धि**—श्रीमद्राजचन्द्र प्रणीत। मू० ॥)

१७ **योगसार**—श्रीयोगीन्द्रदेवकृत दोहा, पं०जगदीशचन्द्रजी एम०ए० कृत भाषानुवाद मू. ।)

गुजराती ग्रंथ—

१ **श्रीमद्राजचन्द्र**—तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ, महात्मा गांधीजीकी लिखी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना सहितका मूल्य सिर्फ ५) है। इसका हिन्दी अनुवाद भी बहुत जल्दी प्रकाशित होगा-छप रहा है।

२ **भावनाबोध**—श्रीमद्राजचन्द्रकी अपूर्व रचना, मूल्य सजिल्दका सिर्फ ।)

नोट—सभी ग्रंथोंका मूल्य बहुत सस्ता-लागतके लगभग रखा गया है।

विशेष विवरण बड़े सूचीपत्रसे जानिये।

मिलनेका पता—**श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल** (रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला)

खाराकुवा जौहरीबाजार बम्बई नं. २

प्राकृतिक चिकित्सा ।

रामनारायण शर्म्मा